...न्द काशी शास्त्रार्थ शताब्दी संस्करण"

॥ ओ३म् ॥

...यान-मुक्तावली

(प्रथम-भाग)



"महर्षि दयानन्द काशी शास्त्रार्थ शताब्दी संस्करण"

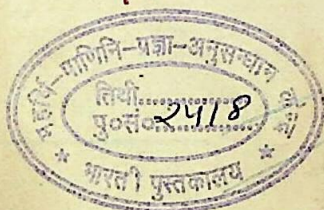
॥ ओ३म् ॥

मा॰ पु॰
भा॰ क॰ वि

व्याख्यान-मुक्तावली

144

(प्रथम-भाग)



"लेखक"

भूतपूर्व आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, अयोध्या

शास्त्रार्थ महारथी पं० विद्यानन्द शर्मा मन्तिकी

(वैदिक मिशनरी)

प्रकाशक—

पं० राधाकृष्ण मिश्र, बी० ए०, साहित्यशास्त्री, विशारद

"आर्य प्रकाशन", बड़ागणेश, वाराणसी

प्रथमावृत्ति ४०००] [मूल्य—दो रुपये

"सृष्टि संवत्"

१,९७,२९,४९,०७०

"दयानन्दाब्द"

१४५

"विक्रमाब्द"

मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा २०२६

२३ दिसम्बर १९६९ ई०

मुद्रक—टाइम टेबुल प्रेस, बड़ागणेश, वाराणसी।



"प्रस्तावना"

आर्य जगत में जब तक लेखन कार्य जोर-शोर से होता रहा तब तक समाज में चैतन्यता, जागरूकता, एवं कार्य कुशलता का वातावरण बराबर बना रहा। दुर्भाग्यवश इधर कुछ दिनों से आर्य विद्वान लेखनादि कार्यों में रुचि कम लेने लगे थे। अतः पुनरपि रूढ़िवादिता, जड़ता, अन्धपरंपरा, एवं पाषंड का वातावरण सर उठाने लगा है। स्थान-स्थान पर पाषाणादि मूर्तियों को देवत्व प्रदान करने का दुराग्रह, भूत-प्रेत पिशाचादि पूजन परंपरा. मृतकों कोही पितर नाम से संबोधित करना, वेदों का नाम ले-लेकर वेद विरुद्ध कार्यों को प्रोत्साहन प्रदान करना, छुआछूत का भूत वत् विस्तार, भाषा के ग्रन्थों से यज्ञादि का अनुष्ठान, देव वाणी की अवहेलना आदि अनेकानेक कुरीतियों ने आज कल सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया है। उपर्युक्त धर्मान्धता के तमसाच्छन्न वातावरण में सच्चे देवता (माता-पिता-गुरु जनादि) स्थान-स्थान पर प्रताड़ित एवं पददलित किए जा रहे हैं। सच्चे तीर्थों को नष्ट भ्रष्ट करने कराने का राष्ट्र व्यापी कुचक्र रचा जा रहा है। नदियों के तट प्रदेश का तो पुनर्निमाण किया जा रहा है किन्तु सदाचार के तट तोड़ फोड़ नष्ट किए जा रहे है। ऐसे समय में शास्त्रार्थ महारथियों को लेखन का कार्य भी अवश्य प्रारम्भ करना कराना चाहिए था। सौभाग्य से यह कार्य काशी से ही प्रारम्भ हो रहा है यह सम्पूर्ण राष्ट्र केलिये अत्यन्त गौरव का विषय है। समय भी इसके लिये स्वयमेव अनुपम बन पड़ा है जैसा कि समाचार पत्रों से विदित है कि

इस काशी में जहाँ तीन-तीन विश्व विद्यालय चल रहे हैं वहो तीन महा पुरुषों की एक साथ शताब्दी भी मनाई जा रही है। गाँधी जन्म शताब्दी, नानक जन्म शताब्दी, एवं दयानन्द काशी शास्त्रार्थ शताब्दी। गाँधी जी की शताब्दी के समय दो प्रकार की काँग्रेस बन रही है, नानक जन्म शताब्दी के समय दो प्रकार का पञ्जाब चण्डीगढ़ में प्रचण्ड हो रहा है किन्तु दयानन्द काशी शास्त्रार्थ शताब्दी की विशेषता यह है कि दो विरोधी संस्थाएँ अलग-अलग होते हुए भी दिग्विजय मनाने के लिए कटिबद्ध होकर आमने सामने खड़ी हैं। शास्त्रों की आज्ञा एवं वेदों की परंपरा के परिपालनार्थ यदि विद्वानों में आगे बढ़ने की होड़ मच जाये तो "काशी शास्त्रार्थ शती' की सफलता स्वतः सिद्ध हो जायगी। "व्याख्यानमुक्तावली" नामक एक लघु पुस्तिका काशी के ही एक तपे तपाए शास्त्रों के विशेषज्ञ द्वारा लिखी एवं प्रकाशित करायी जा रही है। काशी से प्रकाशित इस पुस्तिका की सारे राष्ट्र में आवश्यकता रही है अतः आशा है कि आर्य जन इससे लाभ उठाकर वैदिक सिद्धान्त के प्रचार व प्रसार में सहायक होंगे।

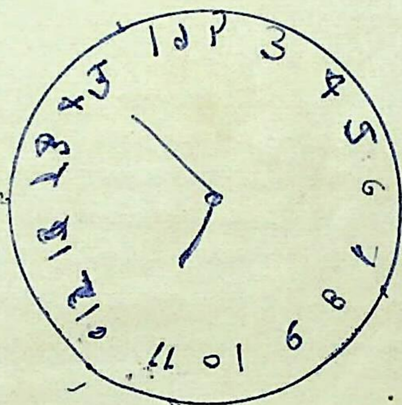
"एक आर्य सेवक"

सत्यदेव शास्त्री

ए० वी० एम० एस०

[आयुर्वेदाचार्य वैचलर आफ मेडिसिन एण्ड सर्जरी]

(काशी हिन्दू विश्व विद्यालय)





पं० विद्यानन्दजी शर्मा (मन्तिकी)
भूतपूर्व आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, अयोध्या
(जन्म सन् १८८५ ई०)



॥ ओ३म् ॥

व्याख्यान-मुक्तावली

"ईश्वरास्तित्व"

लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिर्नतुप्रतिज्ञामात्रेण,

१. **लक्षण :**—सच्चिदानन्द—सत् + चित्+आनन्द=सच्चिदानन्द। सत् = त्रिकालाबाध्य—जो भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् तीनों कालों के बन्धन में न आवें—अर्थात् त्रिकालादूर्ध्व हो।

ईश्वर चूँकि अनुत्पत्ति धर्मक है अतः अनादि है। और जो वस्तु अनादि होती है, वह अमरणधर्मा होती है और जो अमृत होती है वह अनन्त होती है—अतः ईश्वर अनादि अनन्त हुआ। अनादि अनन्त को ही "सत्" कहते हैं। **अत्र प्रमाणम्**—

यो भूतश्च भव्यश्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति स्वर्यस्य
च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।

अथर्व १०।८।१

अर्थ :—यो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालान् सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति। दयानन्दर्षि ॥

पातञ्जलयोग दर्शन :—स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात १। २६।

पूर्वेहि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपवर्त्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। (गृ-शब्दे। गृ-विज्ञाने=गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यार्थान् स गुरुः) यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्ष गत्या सिद्धः, तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥

अर्थ :—सब आदि गुरुओं का काल निर्धारित किया जा सकता है कि उनको हुए इतने वर्ष हुए। परन्तु काल की सीमा में परमात्मा नहीं आता। अतः वह (सृष्टि से लेकर आज तक) इन आदि गुरुओं का भी "गुरु" है। जिस प्रकार वह इस सर्ग के आदि में है। इसी प्रकार उसे गत सर्गों में भी गुरुः समझना चाहिये (ऋषिदयानन्दः) इन प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि ईश्वर त्रिकालावाध्य है अतः—इटर्नल=नित्य, True=सत् है ॥

२. चित् ज्ञाने, ज्ञानवान् होना, जानने की शक्ति रखना—(काँन से सनेस)।

योगः—*तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम*—१। २५। संसार में ज्ञान एक से दूसरे का अधिक एवं तीसरे का उससे भी अधिक पाया जाता है, और ज्ञान विषयक आधिक्य पदार्थों की अधिकता से होता है। जो जितना अधिक पदार्थों का जानने वाला है वह उतना ही अधिक ज्ञानवान् हैं। इस ज्ञानाधिक्य की अन्तिम सीमा होनी चाहिये—तारतम्यवान् पदार्थों की अन्तिम सीमा होती । **यथा** :--परिमाण तारतम्यवान् है। राई से मूँग, चना, आँवला, सन्तरा, वेल, क्रमशः यह बड़ाई बढ़ते-बढ़ते मकान, पहाड़, भूमि, आकाश तक चली जाती है। और उसकी अन्तिम सीमा "विभु" या महत् परिमाण वाले "आकाश" में समाप्त

हो जाती है। एवम् :—ज्ञान का आरम्भ "अणु" परिणाम वाले "जीव" से होता है। अतः ज्ञान महत्व की अन्तिम सीमा—"*सर्व पदार्थ विषयक ज्ञान*" होना चाहिये—परन्तु यह ज्ञान किसी को न्यून किसी को अधिक होता है। अतः यह "*सातिशय*" है। यह ज्ञान जहाँ पूर्ण होगा—उसको "*निरतिशय*" ज्ञान की पराकाष्ठा महत्त्व परिमाण वाला "*ऑमनिशीएण्ट*" "*ऑलनोईङ्ग*"=*सर्वज्ञ परमात्मा* कहेंगे।

३. आनन्द :—सुख दुःख से रहित का नाम "आनन्द" है (ब्लिसफुल) *क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष :—* ईश्वरः ॥ योग १। २४,

अविद्यादयः क्लेशाः। कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः। यस्य नास्ति सम्पर्कः सम्बन्धः स अपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः ॥

अर्थः—अविद्या आदि क्लेश। अच्छे बुरे कर्म। उन कर्मों के फल तथा उन फलों के अनुकूल वासनाओं से जिसका कुछ भी सम्पर्क नहीं, वही पुरुष विशेष "ईश्वर" है।

इन यौगिक सूत्रों से ईश्वर "सच्चिदानन्द" है ॥

श्रुतिः—"*सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म*"

इति श्रुतेः ॥

कस्त्वा सत्योमदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु ॥

ऋग्वेद ४। ३१। २

(सत्यः=सदा सत्स्वरूप) चित्=चित्स्वरूप ज्ञानी। कः= आनन्द-स्वरूप ॥ मदानाम्=आनन्दों के कारणों में। मंहिष्ठः=सबसे महान् पूजनीय ईश्वर। त्वा=तुझे। अन्धसः=अन्नादि के भोगों से। मत्सत्= आनन्दित करता है। दृढावसु=बलकारक धनों को। आरुजे=दुःख नाश के लिये देता है ॥

इस वेदमन्त्र में ईश्वर को स्पष्ट "सच्चिदानन्द" कहा गया है।

४. हेतु :—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्।

न्याय. ४ । १ । १९ ।

पुरुष = जीव प्रयत्न करने पर भी अभीष्ट फल को प्राप्त नहीं कर पाता। अतः सिद्ध हुआ कर्म का फल पराधीन है जिसके अधीन है वह ईश्वर है। अतः ईश्वर कारण है। वह सर्वशक्तिमान् है। "आलमाइटी" है ॥

कपिलमुनि :—

ईश्वराधिष्ठते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।

सांख्य ५ । २ ।

ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर फल की सिद्धि होती है। केवल कर्म द्वारा नहीं। अतः ईश्वर निमित्त कारण है। फल प्रदान में।

५. **प्राकृतिक**—"पदार्थों में जितना "स्थान"=Space. होता है उतनी ही वस्तु = Article, आ सकती है। परन्तु देखो "हाथी" कितना बड़ा है उसका "फोटो" छोटे से "मस्तिष्क" में कैसे आया? अपितुः—आप उसे इन्लार्ज कर सकते हैं। अतः—यह प्राकृतिक पदार्थ=मिटीरियल नहीं है—अपितु अप्राकृतिक=इम्मिटीरियल है। और अप्राकृतिक "वण्डरफुल" = अद्भुत-विचित्र पदार्थ को ही "आत्मा" कहते हैं ॥

६. **अरबी मन्तिक**—लाजिक कहती है कि—हर मुतगैयर चीज "फानी" है, और हर फ़ानी "पैदाशुदः" है—और "पैदाशुदः" के लिये कोई "तरतीब" देनेवाला होना चाहिये। चूँकि—दुनियाँ की हर चीज "मुतगैयर" है—"तगैयुरपजीर" है—पस कुल दुनियाँ मुतगैयर है। चुनाचे पैदाशुदः है। और पैदाशुदः होने से कोई "खालिक" होन

लाज़मी है। पस जो भी कोई परेफैक्ट-इनेवेण्टर (क्रिएटर) = पूर्ण निर्माता है उसे ही Perfect Being=पूर्ण पुरुष कहते हैं। कुर-आने मजीद इसकी ताईद करता है।

(फ़तबा र्कल्लाहो अहसनुल खालेक़ीन)=

वह बनानेवालों में सर्वश्रेष्ठ बनानेवाला है।

७. **वेदान्त** :—जायते, वर्द्धते, संस्थीयते, विपरिणम्यते, क्षीयते, नश्यति—ये ६ विकार प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थ में रहते हैं जैसे—मनुष्य, पशु पक्षी वृक्ष आदि ६ विकारों वाले हैं—बिना बनाने वाले के बन नहीं सकते—मेकर चाहिये —चूँकि ये उत्पत्तिधर्मक हैं। इसी प्रकार समस्त संसार ६ विकारों वाला है। अतः उत्पत्ति धर्मक है। इसलिये इसका कोई अवश्य बुद्धिमान् निर्माता है। *"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि"* ॥

८. **घड़ी**—की सूइयों को "नियमबद्ध" डायल पर घूमते हुए देख-कर बनाने वाले का अस्तित्व तथा योग्यता का "अप्रत्यक्ष" होते हुए भी बुद्धिमान् लोग बिना ननु नच के निश्चय कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार "आकाश" के डायल पर सूर्य-चाँद और जमीन की तीन सूयें घूमती हुई—ठीक समय बताती हैं; कभी फास्ट सिलो नहीं होतीं, इससे किसी "पूर्णनियन्ता" का निश्चय होता है। अतः जो भी कोई इस शुद्ध समय देनेवाली घड़ियों का नियन्ता है वही पूर्ण पुरुष है।

९. **नक्शे**—इञ्जीनियर के मस्तिष्क में रहते हैं और वे भी समीम=लिमिटिड, परन्तु मनुष्य तथा पशु पक्षियों की आकृतियों के नक्शे अनन्त=अनलिमिटिड होने के कारण किसी अनन्त नक्शे रखने वाले "इञ्जीनियर" की कल्पना अवश्यंभावी है। अतः जो भी अनलिमिटिड = अनन्त आकृतियाँ अपने पास रखता है — उसी को *"अनन्तेश्वर"* कहते हैं॥

१०. **गेंद** :—खेलने वाले "प्लेयर्स"=खिलाड़ी वे ही अच्छे समझे जाते हैं जो "गोल" अधिक करते हैं और "औट" कम। परन्तु नितान्त

अच्छे नहीं क्योंकि गेंद एक है प्लेयर्स बहुत हैं। परन्तु पूर्ण वह है जो इसके विपरीत "गेंदे" बहुत रखता हो और खेलने वाला एक ही हो। और "गोल" ही करता हो। "औट" कभी नहीं करता। देखो— आकाश के फील्ड में १ अरब सत्तानब्बे करोड़ वर्ष से अधिक हो गये अनवर्त्त=बराबर दिन रात "तारा गण रूपी" अनगिनत गेंदें लेकर खेलता है आज तक एक भी "औट" नहीं हुआ, बराबर लगातार "गोल" ही करता है। वह ही "वण्डरफुल परफैक्ट प्लेयर"=अमुद्त पूर्ण खिलाड़ी है। वैदिक भाषा से उसे 'विष्णु'=प्रिज़रवर=रक्षक कहते हैं।

११. शरीर—हमारे मकान हैं। यदि कोई सर्व शक्तिमान् विभक्ता न हो तो प्रत्येक जीव एक २ Wonderful house=सुन्दर शरीर ले लेता। लंगड़ा, लूला, काना, कुब्जा, टूटा, फूटा, भद्दा, बीमार शरीर क्यों लेगा ? परन्तु लेना पड़ता है। अतस्तावत्—अनुमीयेत अस्ति काचि द्बलवतीसत्ता, या शरीराणि विभजते—उसी *वंशक्तिमान् कादिर मुतलक=ऑमनि पोटैण्ट* को परमात्मा कहते हैं। वेद कहता है— *"विभक्तारं हवामहे"* ॥

१२. कृन्तन :=कटिंग को देख कर—बिना "दर्जी" के प्रत्यक्ष किये—अनुमान् से ही निश्चय कर लेते हैं कि दर्जी है ठीक ऐसे ही पत्तों की कतरन देख कर किसी विचित्र कृन्तक=काटने वाले का ज्ञान होता है। *तमीश्वर मभिमन्यन्ते* ॥

१३. नास्तिक :—से यदि पूछें कि तुम मार के भय से नास्तिकता छोड़ सकते हो ? यदि कहे—"हाँ" तर्हि नास्तिकत्वं जहाति=ता नास्तिकता चली गई *"इष्ट में तत्"*। यदि कहे कि मार से मृत्यु पर्यन्त नहीं छोड़ेंगे— तो "नहीं रूप सचाई" को अपने से "उच्च" और भिन्न समझता है क्योंकि शरीर उस पर न्योछावर कर रहा है। और "सचाई" गुण है जो विना गुणी के रह नहीं सकती। क्योंकि गुण गुणी का अभेदान्वय है अर्थात् संवाय सम्बन्ध है। अतः जो भी कोई "इटर्नलट्रुथ" का स्वामी है उसे *ईश्वर कहते हैं* ॥

१४. गुलमँहदी—यह ५ प्रकार के रंग वालों फूलों को पैदा करती है। परन्तु सबके एक ही प्रकार के बीज होते हैं। आपस में मिल जाने पर कोई भी बड़े से बड़ा 'बोटैनिस्ट = बूटी विज्ञाता" उन्हें अलग नहीं कर सकता। परन्तु पृथिवी कर सकती है। स्वयं पृथिवी 'इनर्ट = जड़ सेसंलेस=ज्ञानशून्य होने के कारण यह अवश्य किसी ज्ञान वाली शक्ति को अपने भीतर रखती है जो कभी "भूल नहीं करती" इसे न भूलने वाली शक्ति को *सच्चिदानन्द अर्थात् इटर्नलट्रुथ, विदसेंस, ब्लिसफुल— परमात्मा कहते हैं ॥*

१५. मनुष्य—जितने पिञ्जरे बनाता है वे सबके सब डिफैक्टिव= नाकिस=त्रुटिपूर्ण होते हैं। क्योंकि दरवाजा खुला रहने पर कैदी = बन्दी भाग जाता है। परन्तु इन इन्सानी और हैवानी पिञ्जरों को देखो कैसे विलक्षण हैं, अनेक दरवाजे खुले रहने पर भी कैदी नहीं निकल सकते। बस इसी विलक्षण पिञ्जरे बनाने वाले *'वण्डरफुल इन्वैण्टर'*=विलक्षण रचयिता को ही ईश्वर कहते हैं।

शंका—यदि कहो कि "भूलभुलैया' वाले मकान से भी तो नहीं निकल सकते ? तो यह भी ठीक नहीं. क्योंकि यदि निकल नहीं सकते— तो घुस अवश्य सकते हैं। यदि बुद्धिमान् हो तो निकल भी सकता है। परन्तु इस मनुष्य शरीर के पिञ्जरे में यदि विष प्रयोग द्वारा निकल भी जाये तो पुनः प्रवेश नहीं कर सकता। हाँ यदि पिञ्जरे बनाने वाले के दर्शन योग द्वारा कर लिये जायं—तो उपनिषद् वचनानुसार—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्व संशयाः,
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।"

मुण्डक २ । २ । ८

हृदय की वासना रूप गाँठ खुल जाती है। सर्व सन्देह छिन्न-भिन्न हो जाते है। शुभाऽशुभ मिश्रित भोगोत्कण्ठा से क्रियमाण कर्म क्षीण

हो जाते हैं। (अर्थात् साक्षात् होने पर बुद्धि में स्थित सर्व वासनाएँ शुभाऽशुभ कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं) ॥ नश्यन्ति ॥

तब निकलने-घुसने का राज़=भेद खुल जाता है। तो मनुष्य-शरीर क्या, पक्षियों के शरीर रूपी पिञ्जरों में भी अव्याहत गति से अर्थात् बे-रोक-टोक आ-जा सकता है।

इत्यत्र श्रीमद्दयानन्द महर्षिणापि यजुर्वेदभाष्ये प्रतिपादितम्—तद्यथाः—यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युंक्ते तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, ततोऽव्याहत गत्याभीष्ठानि स्थानानि गन्तुं शक्नोति–नान्यथा ॥ यजुः १७। ६७।

यो योगी तप आदि साधनै योगबलम्–प्राप्याऽसंख्यप्राणि शरीराणि प्रविश्याऽनेक नेत्रादिभिरङ्गैर्दर्शनादि कार्य्याणि कर्त्तुं शक्नोति अनेकेषा पदार्थाना धनानाञ्चस्वामी भवति, अस्माभिरवश्यं परिचरणीयः। यजुर्वेद १७। ७१।

१५. भावार्थ :—जब मनुष्य अपना सम्बन्ध परमात्मा से योग द्वारा जोड़ लेता है तो उसे अणिमा=छोटा हो जाना सूक्ष्म हो जाना–आदि सिद्धियां प्राप्त हो जाती जहाँ २ जाना चाहे बिना रोक टोक के जा सकता है। योगबल से अनेक शरीरों में प्रवेश करके आ-जा सकता है। यजुर्वेद १७-७१। १७-६७॥

अतः यह पिञ्जरा=मनुष्य शरीर किसी "वण्डरफुल"–क्रियेटर अर्थात् विलक्षणकर्त्ता का द्योतक है।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म त आपः स प्रजापतिः।

यजुः ३२। १।

१६. प्रश्न—हम सच्चाई आदि शुभ गुणों को धारण करके सच्चे बन जायेंगे–हमें सुख मिलेगा- इसमें ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—आपका कथन सत्य है सत्य-अहिंसा का धारक बनके मनुष्य अवश्य सुखी होगा।

परन्तु आप तो "धारक" हैं—"धाता" तो नहीं हैं। धारक=धारण करने वाला। इससे सिद्ध हुआ कि ये गुण आपके नहीं हैं—अर्थात् मनुष्यमात्र के नहीं हैं। मनुष्यमात्र धारक=धारण करनेवाला है। गुण स्वतन्त्र नहीं रह सकते, ये "द्रव्याश्रित" होते हैं, यह "सर्वतन्त्र" सिद्धान्त है। इन शुभ गुणों का जो भी कोई "धाता" होगा उसे हम "ईश्वर" कहेंगे। आप जो भी कोई उसका नामकरण करें हमें कोई बाधा नहीं। *अतः धातुः प्रसादात्–ईश्वरसिद्धिः सिद्धा॥*

१७. भौतिक—शरीर डाक्टरी नियमानुसार ७ वर्ष में पूर्णरूप से परिवर्त्तन हो जाता है। दूसरे सप्तक में पहिले सप्तक का कोई अणु परमाणु नहीं रहता, ऐसे ही तीसरे में दूसरे सप्तक का कोई कण नहीं रहता। परन्तु प्रथम सप्तक की पढ़ी विद्या दूसरे सप्तक में रहती है। दूसरे की तीसरे सप्तक में रहती है। इससे सिद्ध होता है कि इस शरीर में कोई न बदलने वाली भी "सत्ता" है जिसमें सब सप्तकों की विद्यायें रहती हैं। इस भौतिक शरीर में बल-पुरुषार्थ घटता जाता है—परन्तु उसमें ज्ञान-विज्ञान आदि बराबर बढ़ता रहता है। उस "सत्ता" का आप जो भी नाम रखें, हम उसे "आत्मा" कहते हैं।

इस आत्मासे यह शरीर स्थिर है। आत्मा निकल जाने पर शरीर सड़ गल जाता है। अर्थात् जड़ बिना "आत्मा" के स्थिर नहीं रह सकता।

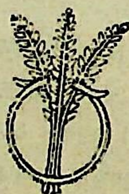
एवंरीत्या विश्वब्रह्माण्ड बिना "विश्वम्भर" के नहीं रह सकता—क्योंकि वह जड़ है। वहाँ भी चैतन्य शक्ति काम करती है। अन्यथा शरीरवत् पतित=अस्त व्यस्त हो जावे। अतः यथा "पिण्डे" शरीर में "आत्मा" है वैसे ही "ब्रह्माण्डे" विश्व ब्रह्माण्ड में "परमात्मा" है।

अरबी में इस शरीर को "आलमे सग़ीर" कहते हैं। इसमें "रुह" जिस्म को हरकते इरादी देती है। इस दुनियाँ को "आलमें कबीर" कहते हैं, इस संसार को *परमात्मा हरकत इन्तज़ामी से कायम* रखता है।

१८. भाण्डार:—ससारमें प्रत्येक वस्तु का भण्डार दृष्टिगोचर होता है। जैसे प्रकाश का भण्डार सूर्य है। शब्द का भण्डार आकाश है। स्पर्श का भण्डार वायु है। गन्ध का भण्डार पृथिवी है। रस का पानी है इत्यादि—ऐसे ही-नितान्त आवश्यक है कि विद्या=ज्ञान की भी कोई निधिः, खज़ाना या भण्डार होना चाहिये। प्राकृतिक वस्तुओं में तो ज्ञान ही नहीं-जड़ हैं, ग़ैरमुदरक = ज्ञान शून्य हैं। अतः इससे ज्ञान मिल नहीं सकता। मनुष्य का आत्मा स्वयं ज्ञान का भूखा है। बिना औरों से सीखे इसे विद्या आती नहीं। और ऐसा मनुष्य अब तक हुआ नहीं, जो यह कह सके कि मैं स्वयं ही पण्डित हो गया-किसी से सीखा या पढ़ा नहीं। अतः "परिशेषानुमान" से हमें यह मानना पड़ेगा कि "सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल: "परमेश्वर" है। यह ही आर्यसमाज का पहिला नियम है।

"लक्षणप्रमाणाभ्यामीश्वर सिद्धिः
सिद्धानतु प्रतिज्ञा मात्रेण ॥

शमित्योम् ॥



॥ ओ३म् ॥

"ईश्वर का स्वरूप"

१. ईश्वर का स्व-रूप=अपना रुप, प्रकाश है। वेद कहता है—

आदित्य वर्णं तमसा परस्तात् =

आदित्य=सूर्य के समान प्रकाश वाला है। परन्तु सूर्य का प्राकृतिक प्रकाश है, ईश्वर का अप्राकृतिक प्रकाश है।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युता भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति":--

इस उपनिषद् प्रमाण से सबसे बड़ा प्रकाश ईश्वर का ही है। उसी के प्रकाश से द्युलोक—में सूर्य, अन्तरिक्ष लोक—में विद्युत. भूलोक- में अग्नि प्रकाशित होता है। ये ही तींन ज्योति वेद में उपदिष्ट हैं :—

"त्रीणि ज्योतींषि स च तेस षोउशी०"

यजुर्वेद :—३२-५ ॥ गीता भी इन सत्र का अनुमोदन करती है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते, ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य निष्ठितम् ॥ १३-१७ ॥

वह ज्योतियों का भी ज्योति है। अविद्या अन्धकार से परे कहा

-जाता है। वह ज्ञान-स्वरूप है—जानने योग्य है और ज्ञानगम्य=ज्ञान द्वारा ही प्राप्त करने योग्य है। सबके हृदयों में विशेषरूप से स्थित है॥

इस "*गीता*" वचन में परमेश्वर को ज्योतियों का ज्योति और प्रकाश पुंज कहा है।

२. कुरआने मजीद में भी परमात्मा को जमीन आसमान की रोशनी बताया है :—

"अल्लाहो नूरुस्समावाते वल अर्ज़ः" =

परमात्मा नूर=प्रकाश है—आसमानों और जमीन का "नूरुँन् अलानूर"=प्रकाश पर प्रकाश—अर्थात् प्रकाश स्वरूप (*प्रकाश पुंज*) परमात्मा है॥

३. १०८ स्वामी दयानन्द जी महाराज ने आर्य समाज के द्वितीय नियम के आरम्भ में ही—ईश्वर का लक्षण किया है **"सच्चिदानन्द"** सबका आदि मूल ईश्वर—**सत्**=अस्ति है—त्रिकालाबाध्य है। त्रिकाला-दूर्ध्व है। **चित्**=ज्ञान स्वरूप है। **आनन्द**=सुख स्वरूप है।

ईश्वर में *सत्ता-चित्ता-आनन्दता*—पात्र में जलवत् अथवा तिलों में तेल या दधि में घृतवत् नहीं है, अपितु यही उसका *स्वरूप* है—क्योंकि गुण गुणी का अभेदान्वय है॥

४. अनुत्पत्ति धर्मक होने से निरवयव है—*अतः निराकार* है *अत्र पौराणिकास्तावत्-आवदन्ति, निर्गतः आकारः यस्मात्-असौ निराकारः- अर्थात् पूर्वमासीत् साकारः = आकारवानित्यर्थः।*

समाधि :—

"निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः"

इस कात्यायनी वार्त्तिक द्वारा शुद्ध समास व्याकरणानुसार "निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या—इति निष्कौशाम्बिः" (सिद्धान्तकौमुद्याम्)।

"आदिपदादुत्क्रान्तः कुलादुत्कुलः"

(तत्वबोधिन्याम्)॥

समास हुआ—निर्गतः-आकारात्-इति "निराकारः" = जो आकार वाले अर्थात् सावयव पदार्थों की गणना से बाहिर हो उसे "निराकार" कहते हैं।

यदि "निर्गतः" आकारः यस्मात्—ऐसा समास मानोगे—तो निराकार (निर्वयव) आकाश है, परन्तु उक्तमतानुसार पूर्व आकाश-साकार (सावयव) रहा, ऐसा मानना पड़ेगा—परन्तु यह उभय सम्मत नहीं है। अन्यच्चः—निर्विकार. निःस्वार्थी. निराधार, निरभिमानी, निरीह, निर्द्वन्द्व, निरञ्जन, निर्लेप, निरामय, निर्मोही, निष्प्रपञ्ची, निश्चल इत्यादि ईश्वर के अनेक निर्दुष्ट विशेषण—दुष्ट विशेषण हो जायेंगे ॥

अत :—शास्त्रसम्मत समास से ईश्वर निराकार है ॥

५. यजुः ४०-८, अत्र ईश्वरः स्वयं स्व-रूप दर्शयति—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरं
शुद्ध मपापविद्धं कविः—

अकायम् = काया=शरीर रहित है, अर्थात् ईश्वर "निराकार" है।

प्रश्न—अकाय से ही शरीर का प्रतिषेध हो जाता "*विशेषणद्वय-अव्रणम् अस्नाविरम्*—क्यों दिये ?

उत्तर—काय शब्द केवल शरीर वाची ही नहीं है, अपितु अन्यार्थ-वाची भी है—देखो *अष्टाध्यायी—३-३-४१* ॥

"निवास चिति शरीरोप समाधानेष्वादिश्चकः" ॥

काय शब्द निवास, चिति, शरीर, उपसमाधान—अर्थ में "चिञ्" "घञ्" प्रत्यय और आदि "च" को "क" हो। अतः वेद के विशेषण द्वय से विस्पष्ट हो गया कि "अकाय" शब्द का अर्थ शरीर रहित ही है।

चीयतेऽस्थादिभिः—चिञ् + घञ् = चाय—काय = देहे, वृद्धि—आयादेशश्च। अ, इति निषेधे—न काया-अकाया, अशरीरी = निराकारः ॥

६. निराकार पदार्थ अछेद्य और अभेद्य होता है। निर्वयव होने से। कृष्ण भगवान् "गीता" में उपदेश देते हैं :—

अछेद्योऽयमदाह्योऽयमकलेद्योऽशोष्येवच ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन ॥

यद्यपि जीवात्मा को लक्ष्य में रख कर कहा गया है ; परन्तु दोनों (जीवात्मा और परमात्मा) के गुण मिलते-जुलते हैं—भेद इतना ही यहाँ पर है-कि जीव एक देशी और व्याप्य है-ईश्वर **"अणो रणीयान् महतो महीयान्**=सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, अर्थात् जीव और परमाणुओं में भी व्यापक है—तथा बड़े से भी बड़ा है। सबसे बड़ा आकाश है; अवकाश है; परन्तु ईश्वर सर्वव्यापक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। आकाश-अवकाश भी उसमें समा जाता है—तब वह शेष रहता है—

"पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि '।
यजुः ३१-३ ॥

अर्थात् एक पाद में सृष्टि है और तीन पाद अमृत हैं। अतः सर्वदेशी निराकार है।

७. सर्वशक्तिमान् है-सर्वशक्तिमत्ता ईश्वर को छोड़ कर और किसी पदार्थ में नहीं। यदि किसी द्रव्य में होती तो वह "सृष्टि कर्त्ता" हो जाता, या उसी को ही ईश्वर मानना पड़ता-अतः इस गौरवीय क्लिष्ट कल्पना से भी ईश्वर ही सिद्ध होता। अतः—

"सहि सर्ववित् सर्वकर्त्ता-सांख्यदर्शन।"

ईश्वर ही सर्वज्ञ सृष्टिकर्त्ता है, सर्वशक्तिमान्=जो सृष्टि रचना में किसी अन्य की शक्ति उधार नहीं लेता, न इन्द्रियादि साधनों की अधीनता रखता है—अपितु "सर्वशक्तिमत्ता" से आभ्यन्तरीय (भीतर से) इच्छाशक्ति द्वारा समस्त विश्वब्रह्माण्ड की अद्भुत रचना करता है।

"मुक्त बद्धयोरन्यतराभावात्-न तत्सिद्धिः । सांख्य ॥

मुक्त या बद्ध जीव कोई भी सृष्टि की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि वे अल्पशक्तिवाले अल्पज्ञ हैं । वेदान्त में —

"जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च"

अर्थात् मुक्तात्मा (सच्चिदानन्द होते हुये भी) सृष्टि की रचना पालन व प्रलय नहीं कर सकते, क्योंकि यत्र तत्र सर्वत्र सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण में—सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर को—

"जन्माद्यस्य यतः"

वेदान्त में जन्म स्थिति व प्रलयकर्त्ता कहा है—ये गुण उसमें समवाय सम्बन्धसे (नित्य सम्बन्ध से) रहते हैं, अतएव ईश्वर तद्रूप है। जिस पदार्थ में जो उसके स्वाभाविक धर्म होते हैं वही उसके रूप होते हैं अर्थात् वे ही उसका स्वरूप है।

८. हिरण्यगर्भः—ईश्वर हिरण्यगर्भ है—हिरण्य=शुक्र को कहते हैं, गृभ=धारण करना, शुक्र, वीर्य, रेतस्;-ये पर्य्याय हैं। इन से उत्पत्ति की जाती है। शरीर में धारण किया जाता है तो-बल, ओज, व तेज को पैदा करता है। दान करने पर अपने जैसे तेजस्वी ओजस्वी मनुष्यों को जन्म देता है।

परमात्माभी "हिरण्यगर्भ" है—उसने भी सृष्टि के शुक्र वीर्य बीज को धारण किया हुआ था, "अग्रेसमवर्त्तत" सृष्टि के आदि में विराजमान था, सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् भी "एकः पतिः आसीत्" = एक ही स्वामी आसीत् = अस्ति=है, और "हिरण्य" को उसने सबको बाँट दिया दान कर दिया,

अतः—

"ब्रह्मचर्य्येण-राजा राष्ट्रम् विरक्षति ।"

आचार्य्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य्येणकन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान ब्रह्मचर्येणाऽश्वोघासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥
ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥ १९ ॥

इत्यादि अथर्ववेद को ११।५। ७ से २६ तक पढ़ जावें-औषधि, वनस्पति, अहोरात्रे, ऋतुओं के साथ संवत्सर, पार्थिव, दिव्यपशु-आरण्य ग्राम्य अपक्ष, पक्षी प्राण अपान, व्यान वाणी मन = हृदय, चक्षु, श्रोत्र, इत्यादि हिरण्य सेवी ब्रह्मचारी से प्रसिद्ध होते हैं। इन सबमें परमात्मा ने रेत, हिरण्य, शुक्र वीर्य्य आगे बनाने और बढ़ने की दिव्यशक्ति प्रदान की है-जो इस दी हुई दिव्य शक्ति को धारण करता कराता है- वह "*हिरण्यगर्भ*" हो जाता है—जैसे "*सचिद*" जीव "*आनन्द*" को प्राप्त करके "*सच्चिदानन्द*" बन कर "मोक्ष" लाभ करता है। ऐसे ही जो जीव परमात्मा के दिये "हिरण्य को धारण करता है—वह "*हिरण्यगर्भ*" बनकर मोक्षानन्द को प्राप्त करता है।

९. ऐसा सुन्दर गुण कर्म्म स्वभाव वाला ईश्वर—जिसने अपने सारे स्वरूप=प्रकाश, ओज, तेज, ऐश्वर्य, हिरण्य, चमक, दमक, नूर से संसार भरपूर कर रक्खा है।

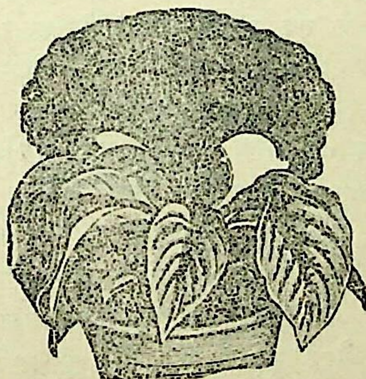
"भूतस्य जातः पतिरेकः आसीत्"

उत्पन्न हुए संसार का स्वयं पति=स्वामी है, अर्थात् हिरण्य=सूर्य, चन्द्र आदि चमकीले पदार्थ अब भी उसी के गर्भ में हैं। कैसी अद्भुत माया है—हिरण्यगर्भ से हिरण्यगर्भ निकला तब भी हिरण्यगर्भ ही रहा— इसीलिये वेद ने कहा है :—

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते ।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥
अथर्व. १०।८।२९।

अर्थ—पूर्ण सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म से संपूर्ण जगत् (उत् + अचति)= उदेति = उदय होता है। *पूर्णेन* = पूर्ण ब्रह्मद्वारा, *पूर्णम्* = समग्र (जगत्) *सिच्यते* = *आर्द्री क्रियते* = *वर्ध्यते* = बढ़ता है। उसको आज हम जाने–जिससे सब प्रकार सींचा जाता है।

१०. अतः नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वरूप ईश्वर के दिये "नूर" से भरपूर होकर संसार से दूर हो जाओ–अर्थात् त्रिगुणातीत हो जाओ— "त्रिकालादूर्ध्वं" ईश्वर के "तृतीय धाम" में जहाँ देवलोग अमृतपान करके "*अध्यैरयन्त*" स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। वही परमात्मा अपना गुरुः, आचार्य, राजा, न्यायाधीश है। अपने लोग मिलकर उसके स्वरूप को सम्यक जाने माने और सदा उसकी भक्तिपूर्वक स्तुति प्रार्थना उपासना किया करें ॥ ओ३म् ॥



॥ ओ३म् ॥

"वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है"

ईश्वर प्रदत्त वस्तुयें आवश्यकता से पूर्व आती हैं। जैसे सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु आदि।

वेद सृष्टिके आदि में आया—इसे आये १ अरब सत्तानब्बे करोड़ वर्षसे अधिक हो गये। शेष पुस्तकें जिनको ईश्वर की ओर से लोग आया हुआ मानते हैं—वे सब पुस्तकें—अढ़ाई-तीन हजार वर्ष के भीतर की हैं। इनसे पहले संसार बन चुका था। अनेक प्रकार की भाषायें संसार में बोली जाती थी–इनमें अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, राजनीति, धर्मनीति मानव के रहने का तौर-तरीका, पढ़ाई-लिखाई गुरु शिष्य का व्यवहार माता पिता की सेवा, अतिथि सत्कार—नौका, बिमान, शस्त्रास्त्र बनाना, चलाना राजधर्म, गृहस्थ-धर्म, विवाह-शादी, खेती करने की विद्या, मकान बनानेके नाना विधान, मनुष्यों के नाना रोगोंके निवारणार्थ सुन्दर २ चिकित्सा की पुस्तकें उपस्थित थीं—जिसका जीवित जाग्रत प्रमाण "**चरक**" और "**सुश्रुत**" आदि हैं। इतिहास में "**रामायण**" और "**महाभारत**" आदि हैं। इसी प्रकार मंत्तिक-रियाज़ी, फलसफः= न्याय, योग, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक मीमांसा. गणित, गान, वाद्य, नृत्य इत्यादि विद्याओं के अद्वितीय ऋषि-मुनि प्रणींत चित्र-विचित्र—अद्भुत

ग्रन्थमाला थी। जिनके सन्मुख ये बीच की खुदाई पुस्तकें—ज्ञान-विज्ञान आचार-विचार में करोड़वें हिस्से की समता नहीं कर सकतीं।

जो पुस्तकें ऋषि-मुनियों की कृति के सामने रद्दीखाते में डाल देने के योग्य हैं वे पुस्तकें ईश्वरकृत कैसे हो सकती हैं। समय बीतनेके कारण (बीच में आने के कारण) ईश्वरीय नहीं और मज़मून = विषय प्रतिपादन के कारण भी ऋषि-मुनियों की पुस्तकों से निकृष्ट हैं।

२. प्रश्न—मनुष्य की आदि सृष्टिमें "ईश्वर का ज्ञान" क्यों आना चाहिये?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष है कि जब बालक जन्म लेता है तो कोई बोली= भाषा अपने साथ नहीं लाता और ना ही माता की बोली बोलता है—अपितु जिसकी गोद में पलता है उसी की बोली का अनुकरण करता है। यही कारण है कि हिन्दू माता से उत्पन्न बालक—यदि लन्दन की स्त्री की गोद में पाला जाये तो उसकी भाषा इंगलिश हो जायेगी। अरब की स्त्री की गोद में "अरबी बोलने लगेगा, इत्यादि। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य के बालक की अपनी कोई "भाषा" नहीं। अपितु जो भाषा सिखाई जाती है वह ही आती है। दूसरी भाषा नहीं आती। अब यह "आटो-मेटिकलि" अर्थात् स्वतः सिद्ध हो गया—कि यदि न सिखाई जाये—तो उसे कोई भाषा नहीं आयेगी। इसी को "अर्थापत्ति" प्रमाण कहते हैं।

१. परीक्षणः—१. यूनान का राजा—सेमिटिकल।
२. द्वितीय फ्रेडरिक (११९४—१२५०)
३. चतुर्थ-जेम्स (१४७३—१५१२)
४. ग्रेट अकबर (१५४२—१६०५)

इत्यादि अनेक महापुरुषों ने अनेकबार "परीक्षण" किया। अकबर बादशाह ने "३० बच्चों" पर परीक्षण कराया, "दबिस्ताने-

मज़ाहिब" फारसी की पुस्तक में लिखा है कि बच्चों को शीशों के मकानोंमें रक्खा गया और उनके पालन-पोषणके निमित्त "धाइयाँ" नियत की गईं—जिनका काम केवल खिलाना-पिलाना तथा पालन-पोषण था, परन्तु उनसे बातचीत करना वर्जित था लोरी आदि देना मना था। जब वे बालक बड़े २ हुये तब वे दरबार में लाये गये। परन्तु वे पूछने पर किसी बात का उत्तर नहीं देते थे, बहरे-गूँगे की भाँति खड़े रहते थे। अतः सिद्ध हुआ कि बिना सिखाये न कोई भाषा आ सकती है और न ही ज्ञान वृद्धि हो सकती है।

३. **सृष्टि** की आदिमें सब जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि अपनी वाणी और भोजन को साथ लेकर पृथिवी से उत्पन्न हुये। परन्तु "**मनुष्य**" सब के अन्त में पृथिवी से निकला—यह न तो कोई "**वाणी**" और न कोई "**भोजन**" ही लाया। अतः इसे भाषा चाहिये, भोजन चाहिये। पृथिवी माता जिसके गर्भ से निकला है—वह "जड़" है *ज्ञानशून्य* है वह कुछ दे नहीं सकती—**अतः** उस जगतकर्त्ता सवज्ञ परमात्मा (**सहिसर्ववित् सर्वकर्त्ता—सांख्य ३-५६**) की ओर से "मोक्ष" से लौटे हुये कर्मयोनि को प्राप्त जीवों के आत्माओं में (हृदयों) वेद=ज्ञान का प्रकाश हुआ।

"स्वयमुपदिशतिवेदः—ऋग्वेद १०।७१।३"

यज्ञेन वाचः पदवीय मायन्ता मन्वविन्दन्-ऋषिषु प्रविष्टाम् ।।
तामाभृत्य व्यदधुः पुरुत्रातां सप्त रेभा-अभिसन्नवन्ते ।।

अर्थ :—यज्ञेन=यज्ञपुरुष=परमात्मा से। वाचः पदवीयम्=वाणी सम्बन्धी मार्ग वाणी के प्राप्तव्य ज्ञान को। आयन्=पाते हैं। ऋषिषु=वेद ग्राहक ऋषियों में। प्रविष्टाम्—प्रविष्ट उस (देववाणी) को। अन्वविन्दन्=पश्चात् ऋषियों से अन्य पुरुष वह भाषा प्राप्त करते हैं।

ताम् = उस भाषा को। आभृत्य=लाकर = पाकर (वे पुरुष)। पुरुत्रा=बहुतों में। व्यदधुः=उसे फैलाते हैं। ताम्=उस भाषा को। रेभा=शब्दायमानं गायत्री आदि। सप्त = सातछन्दों में। अभिसन्नवन्ते = प्राप्त करते हैं॥ इस से विस्पष्ट है कि ऋषियों ने भाषा सहित वेद = ज्ञान प्राप्त किया।

शंका :—यह क्यों न माना जाये-कि ज्ञान ईश्वर ने दिया—भाषा ऋषियों की रही ?

समाधि :—ऐसा कभी नहीं हो सकता। ज्ञान बिना भाषा के प्रकट नहीं हो सकता। यह तो सम्भव है कि ज्ञान भारत के ऋषियों का हो—और वह "अरब देश" में अरबी भाषा द्वारा व्यक्त = प्रकट किया जाये। किन्तु भाषा से भिन्न नहीं किया जा सकता—यहाँ ऋषियों की भाषा में था—वहाँ अरबों की भाषा में प्रकट हुआ॥

वेद के लिये तो यह शंका ही निर्मूल है :—क्योंकि वह (वेद) तो सृष्टि की आदि में आया-तब कोई भाषा ही न थी – अतः यह शंका भाषा के अभाव के कारण निर्मूल है॥

५. ईश्वर के ज्ञान का प्रकाश "शब्द-अर्थ-सम्बन्ध" के साथ हुआ क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ "**समवाय सम्बन्ध**"=नित्य सम्बन्ध है। **भणति मीमांसकोऽत्र** :—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दार्थेन सम्बन्धः"

शब्द का अर्थ के साथ "*औत्पत्तिक*"=नित्य सम्बन्ध है॥१।१।५॥

"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"

अथर्व. १०। ८। ३२।

इस मन्त्र खण्ड में वेद को "काव्य" कहा गया है, काव्य और कविः "कु शब्दे" धातु से बनते हैं—अतः "काव्य" शब्दमय ज्ञान

का नाम है, अर्थात् "वेद" ईश्वर प्रदत्त **"शब्द मय"** ज्ञान है। इस में भी **"न ममार न जीर्यति"**=न मरता है और न जीर्ण शीर्ण होता है। क्योंकि परमात्मा नित्य है—अतः उसके गुण कर्म स्वभाव भी नित्य होने चाहिये। न च कहो कि शब्द तो अनित्य है—उत्पत्ति धर्मक होने से।

नैवं वाच्यम्—*शब्दो द्विविधः, नित्योऽनित्यश्च। कार्यरूपोऽनित्यः। कारणरूपो नित्यः।* अर्थात् कार्यरूप शब्द (जो बोला जाता है) अनित्य है, और कारण रूप शब्द (जिसकी कारण में स्थिति है) नित्य है।

अत्रमहर्षिणा विशदी क्रियते :—

शब्दो द्विविधो नित्य, कार्य भेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थ—सम्बन्धाः सन्ति ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादिनां वर्त्तन्ते तेतु कार्य्याश्च। कुतः यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभाव सिद्धे अनादीस्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितु मर्हति। तद्विद्यामयत्वात् वेदाना मनित्यत्व नैव घटते॥

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका॥

अर्थात् जो हमारे अन्दर है वे अनित्य है। तथा जो ईश्वर के ज्ञान में स्थित है वे शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। क्योंकि उसकी ज्ञान क्रिया नित्य है। स्वभाविक है। वह परमात्मा "ज्ञानमय" है। अतः वेदानां **नित्यत्वं सिद्धम्॥**

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्"॥

गीता ३-१५॥

अर्थ :—कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म=वेद से हुई और वेद ईश्वर से

उत्पन्न हुये। वेद प्रत्येक सृष्टि के आदि में "यथा पूर्वमकल्पयत्" के नियमानुसार प्रकट होते हैं।

६. कया रीत्या प्रकटी करोति ?

वह वेदवाणी मोक्ष से लौटे हुये ऋषियों के हृदयों में सृष्टि के आदि में ईश्वर की ओर से शब्द अर्थ सम्बन्ध सहित प्रकट=प्रकाशित होती है॥

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋग्वेद १०।७१।१।

अर्थ :—बृहस्पते ! बृहस्पत्याः वाचः पतिः=सबसे बड़ी "आयु" वाली—सब वाणियों से पूर्व आने वाली, वाणियों की अग्रगण्या वाणी= देववाणी के पतिः=पालक-स्वामी। बृहस्पति-तत्संबुद्धौ-बृहस्पते ! हे वेदाधिपते ! आपके अनुग्रह से। प्रथमम्=सब वाणियों के उच्चारण से पूर्व। नामधेयं दधानाः=नामकरणाभिलाषी ऋषियों ने। यत्-वाचः-अग्रम्-प्रैरत=जो वाणियों की अग्रगण्या वाणी=वेदवाणी को उच्चारण करते हैं। यत्-एषां-श्रेष्ठम्=जो इन सब वचनों में श्रेष्ठ है। यत्-अरिप्रम्=और जो दोषरहित है। तत्-एषां-गुहा-निहितम्=वह इन महात्माओं के हृदय गुहा में डाला हुआ ज्ञान। प्रेणा-आविः=इनके प्रेम के कारण प्रकट होता है॥

इस वेदमन्त्र से विस्पष्ट हो गया, कि ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली यह है कि ज्ञान वाणी के साथ ऋषियों के हृदयों में प्रकट होता है। और वे ज्ञानग्राही ऋषि पुनः उसे संसार में प्रसारित करते हैं॥

यदि हम सूक्ष्मबुद्धि से विचारें तो नित्यं प्रति अच्छा काम विचार

में आते ही "उत्साह-आनन्द तथा निर्भयता" की प्रतीति होती है, और बुरा विचार आते ही "भय-शोक-लज्जा" का आविर्भाव होता है। इन दोनों प्रकार के विचारों को न तो हमने बाहिर सुना है—और ना ही वाणी से कहा है। अपितु ये भाव हृदय ही में उत्पन्न होता है। और हम उसे हृदय ही के माध्यम से सुन और समझ लेते हैं। इसी "अन्तःकरण" की भाँति "ईश्वरीय ज्ञान" भी आदि सृष्टि में ऋषियों के हृदयों में आविर्भाव होता है। और ऋषि लोग उसे "हृदय" ही में शब्द-अर्थ-सम्बन्ध सहित अवगत = परिज्ञात कर लेते हैं॥

"सवा ऋग्भ्योऽजायत, तस्मात् ऋचोऽजायन्त ॥"

अथर्व वेद १३। ४। ३८॥

अर्थात् वह=ईश्वर ऋचायों=वेदों से प्रकट हुआ, उस=ईश्वर से ऋचायें=वेद प्रकट हुये॥

७. "ज्ञानाधिकरणं आत्मा"

१. ज्ञान का अधिकरण=आश्रय आत्मा है, अतः ज्ञान=वेद का प्रकाश आत्मा में होना चाहिये।

२. जो ज्ञान भीतर से बाहिर आता है—वह पहिले आत्मा में आता है। तब मन उसे लेकर "वाणी" को देता हैं तब वाणी द्वारा उसका प्रसार किया जाता है। तदनन्तर कर्म में आता है—तब फल मिलता है।

साक्षी :—

"शास्त्र योनित्वात्"

वेदान्त दर्शन. १। १। ३।

इस सूत्र में प्रथम सूत्र से "ब्रह्म" की अनुवृत्ति आती है—तब अर्थ हुआ—ब्रह्म = परमात्मा, शास्त्र = ऋग्वेद- यजुर्वेद, सामवेद, तथा अथर्व-वेद का योनिः = कारण होने से॥

शांकर भाष्य :—

ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति यद्यद्विस्तारार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुष-विशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञे यैकदेशार्थमपि स ततोप्यधिकतर विज्ञान इति प्रसिद्धं लोके॥

अर्थ :—अनेक विद्याओं से युक्त प्रदीपवत् सब अर्थों का प्रकाश करने वाला सर्वज्ञ शास्त्र का कारण ब्रह्म है। ऐसे सर्वज्ञ गुणों से युक्त शास्त्र को सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं बना सकता।

महर्षि पाणिनि आदि ने एक-एक विद्या को लेकर जो शास्त्र रचा है, जब उस की इतनी महिमा है—तो जिसमें सब विद्यायें विद्यमान् हैं उसका कहना ही क्या है॥ अतः वेद ईश्वर प्रदत्त हैं॥

"अरे अस्य महतोर्भूतस्य निश्वसितमेतद्
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"

(बृहदारण्यक)

अर्थात् उस महाभूत = ईश्वर के श्वास से यह जो ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद-तथा अथर्ववेद प्रकट हुये॥

"त्रयोवेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो
वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः"।

शतपथ ११-४२-३॥

प्रथम सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अग्नि वायु आदित्य तथा अङ्गिरा—इन ऋषियों की आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया।

"अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजु साम लक्षणम् । मनुः

अग्नि, वायु, रवि, ऋषियों से यज्ञ की सिद्धि के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद प्राप्त किया ।

"अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूँषि सामान्यादित्यात्"
(छान्दोग्य-उपनिषद्)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांशसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(ऋग्वेद)

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ॥
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ॥
(अथर्ववेद)

यस्मिन्नृचः साम यजूंशसि यस्मिन् प्रतिष्ठिता
रथनाभाविवाराः ।
(यजुर्वेद)

त्रयोवेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेर जायत ।
यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्यात् ॥
(ऐतरेय ब्राह्मण)

इत्यादि वेद स्वतः प्रमाण होने पर स्वयं ईश्वर से आने का उपदेश देते हैं । तथा उपनिषद् साक्षी रूप हैं । अतः चारों ऋषियों की आत्मा में ज्ञान = वेद का प्रकाश हुआ ।

हरिवंश पुराण में लिखा है :—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्या थर्वणानिच ।
चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्यास्सविस्तराः ॥

संसार के समस्त रहस्यों का इन ऋग्-यजुः-साम, तथा अथर्ववेद में वर्णन है ।

"गोपथ ब्राह्मण" :—

"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः" ।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार वेद हैं ॥

महाभारत—

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्त मथाङ्गतः ।
ऋक् साम वर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥

शान्ति पर्व १३५

त्रयी विद्या वाले चारों वेदों का महाभारत में भी उल्लेख है ।

सर्वानुक्रमणी—

विनियोक्तव्य रूपश्च त्रिविधः संप्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुसामरूपेण मन्त्रो वेद च तुष्टये ॥

अर्थात् विनियोग किये जाने वाले मन्त्र चारों वेदों में तीन ही प्रकार के हैं ।

नूनं मन्त्र वदति=निश्चय वेद रूप मन्त्र भाग को देता है :—

प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा
ओकाᳬसि चक्रिरे ॥

यजुः–३४-५७

अर्थ—हे मनुष्य ! यस्मिन् (परमात्मनि) इन्द्रो वरुणो मित्र अर्यमादेवा ओकांसि चक्रिरे = हे मनुष्यों ! जिस परमात्मा में इन्द्र = विजुली व सूर्य, वरुण = जल व चन्द्रमा, मित्रः = प्राण व अन्य अपानादि वायु, अर्यमा = सूत्रात्मा वायु, देवा = वे सब उत्तम गुण वाले, ओकांसि = निवासों को, चक्रिरे = किये हुये हैं, ब्रह्मणस्पति = वेद विद्याका स्वामी रक्षक परमात्मा, उक्थ्यम् = प्रशंसनीय पदार्थोंमें श्रेष्ठ, मन्त्रम् = वेदरूप मन्त्र भाग को, नूनं प्रवदति = निश्चय कर अच्छे प्रकार प्रकाश करता है ।

भावार्थ—*हे मनुष्य ! यस्मिन् परमात्मनि सर्वं जगत्कारणं कार्यं जीवश्च वसन्ति यत्र सर्वेषां जीवानां हितसाधकं वेदोपदेशं कृतवानस्ति तमेव यूयं भजत ॥*

अर्थः—हे मनुष्य ! जिस परमात्मा में कार्य कारण रूप सब जगत जीव बसते हैं तथा जो सब जीवों का हित साधक वेद का उपदेश करता है ! उसी की तुम लोग भक्ति, सेवा, उपासना करो ॥

८. **संसार** में समस्त मतमतान्तर जो कि ईश्वर से आई हुई पुस्तकें मानते हैं—वे इसमें **"एकमत"** हैं कि *मज़हब में अक़्ल को दख़ल नहीं* । तर्क से युक्ति से परीक्षा करना अनुचित समझते हैं । परन्तु **"वेद"** में एक यह विलक्षणता है कि इसे दर्शनकार = मंत्तिक़ी = तार्किक, फ़लसिफ़ी = दानिशमन्द बुद्धिमान् लोग सब मानते हैं ।

९. "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" वैशेषिक दर्शन १ । १ । ३,

चारों वेद प्रमाण हैं—क्योंकि ईश्वर वचन हैं। यह कणाद मुनि की साक्षी है।

"मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त प्रामाण्यात्" न्याय।

अर्थः—मन्त्र = मन्त्रि--गुप्तभाषणे--मन्त्रि धातु से अच् नुम् करके मन्त्र शब्द बनता है। इसका अर्थ हुआ गुप्त भाषण—गुप्त विचार—मनन करना—सोचना—विचारना—अर्थात् पदार्थों के सत्य अर्थ का प्रकाश "मन्त्र" है, और चरक-सुश्रुत-वैद्यक शास्त्रको "आयुर्वेद" कहते हैं। ये "आप्त" होने से प्रमाणिक माने जाते हैं। "आप्त" का लक्षण "वात्स्यायन" भाष्य में किया हैः—"आप्ताः खलु साक्षात्कृत धर्म्माणः" जो किसी पद के अर्थ का साक्षात् करनेवाला, सत्यवक्ता, सत्यकर्ता, सत्यविचारक है उसे "आप्त" कहते हैं। अतः -'मन्त्र आयुर्वेद" की भाँति आप्तवचन होनेसे "वेदवाक्य" प्रमाण हैं। अर्थात् जैसे आयुर्वेद की बताई औषध यथा योग्य सेवन करने से रोग निवृत्तिरूप सत्य फल देखा जाता है और यह आप्तोक्त होनेसे सर्वांस में प्रमाण हैं, इसी प्रकार यथार्थ फल बोधक वेद भी परमाप्त परमात्मा का वाक्य होनेसे सर्वांस में प्रमाण है। न्यायदर्शन २ । १ । ६९ गौतम मुनि प्रणीत।

"निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रमाण्यम्" सांख्यदर्शन—कपिल मुनि ॥

अर्थ :—जिस वेद के ज्ञान द्वारा "आयुर्वेद" की औषध का सच्चा प्रभाव है—ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्य लाभ है, तेज तथा ओज

लाभ होता है—यज्ञ-यागादि से सुख शान्ति और वृष्टि द्वारा अन्न लाभ है—प्राणियों की सुख-संपत्ति बढ़ती है। जिसके सब उपदेश सृष्टि क्रमानुकूल है—वह प्रत्यक्ष मूलक होने से "स्वतः प्रमाण" है उसे किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं। क्योंकि वह स्वयं प्रमाण है। प्रमाण के लिये प्रमाण नहीं होता। ऐसे ही यदि प्रमाण के लिये भी प्रमाण खोजा जायेगा—तो "अनवस्थादोष" आ जायेगा। सूर्य को दिखाने के लिये दूसरा सूर्य नहीं चाहिये – वह तो स्वयं अपने प्रकाश से सबको प्रकट करता है—प्रकाशित करता, अतः वह स्वतः प्रमाण है। द्यौलोक, अन्तरिक्षलोक, तथा भूलोक इन तीनों लोकों का प्रकाशक है। एवमेव "वेद" भी "त्रयी विद्या" प्रकाशक हैं। अतः वेद स्वशक्ति= ईश्वर शक्ति से "अभिव्यक्त"=प्रकाशित हुआ है अतः वेद स्वतः प्रमाण है "ईश्वरीय ज्ञान" है।

"मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्"।

सांख्य ५-४७।

अर्थ :—जीव दो प्रकार के होते हैं। एकबद्ध होते हैं, जो अल्पज्ञानी हैं और 'सत्-चित्" हैं ये न सृष्टि बना सकते हैं न वेद बना सकते हैं। दूसरे मोक्षस्थ हैं वे "सत् चित्-आनन्द" हैं। ईश्वर भी "सच्चिदानन्द" है। परन्तु जीव एक देशी और अल्पज्ञ होने से वेद रचने में असमर्थ है। एक कालावच्छेदेन जीव एक ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वेद में ऐसा विचित्र सृष्टि विज्ञान जो बिना सर्वज्ञ के सिद्ध नहीं होता। अतः वेदों को दोनों प्रकार के जीव नहीं बना सकते। अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक ईश्वर ही वेद का "प्रकाश" कर सकता है।

१०. प्रश्न :—सृष्टि के बीच में यदि "ईश्वरीय ज्ञान" आये तो इसमें क्या हानि है?

उत्तर :—यह सृष्टि क्रम के विरुद्ध है, क्योंकि सृष्टिकर्त्ता ने सब आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये, सब जीवधारियों को सब साधन आदि में ही दे दिये हैं, यदि बीच में भी देने का नियम होता, तो इससे पहिले उस लाभ से लाभान्वित न हो सकते, यह पक्षपात और अन्याय होता, जो कि ईश्वर कभी नहीं करता, अतः पक्षपातशून्य न्यायकारी परमात्मा सब कुछ आदि में ही दे देता है।

ईश्वरीय ज्ञान परमात्मा का *"ला"* । *कानून* है. और यह वह "इटर्नलला" नित्यनियम है कि जिसके आश्रय सारा जड़ और चैतन्य जगत चल रहा है। इन नित्य नियमों द्वारा ही संसार बदलता परिवर्त्तन होता रहता है। परन्तु ये नियम कभी नहीं बदलते। यतः ईश्वर अपरिवर्त्तनशील है अतः उसके नियम अपरिवर्त्तनीय हैं। इस लिये आप का प्रश्न सृष्टि क्रम के विरुद्ध है॥

११. सृष्टि की आदि में जो मनुष्यों को ज्ञान दिया—उसके तीन भाग हैं :—शब्द-अर्थ-सम्बन्ध—सृष्टि के आदि में ये तीनों नहीं थे—तीनों दिये। अब बीच में यदि ईश्वर अपना ज्ञान दे—तो जिस भाषा में मिलेगा—वह भाषा तो पहिले से ही बोली जाती है—और अर्थ भी उसका वहाँ के भाषा भाषी जानते ही हैं—*कोष = डिक्शनरी, लुगत* आदि में लिखे छपे हुये हैं। इसमें दो भाग तो परमात्मा की ओर से मिले नहीं—शेष "सम्बन्ध" बचा वह भी वहाँ के देशवासी 'मदरटंग = मातृ भाषा" होने के कारण जानते ही हैं। अत एव बीच में ईश्वर के ज्ञान से कोई विशेषता नहीं हुई—अतः यह प्रश्न भी निर्मूल है। यदि कहो कि जैसा पहिले दिया है वैसा ही मिल जाये—तो इस "पिष्टपेषण" से कोई लाभ नहीं। अतः सृष्टि के आरम्भ में ही जो ज्ञान ऋषियों को ईश्वर की ओर से मिलता है—वह ही "इलहामी" = ईश्वरीय होता है।

१२. छन्दोबद्ध होने से "वेद" ईश्वरीय ज्ञान है। क्योंकि

समस्त संसार छन्दोंबद्ध है । **"योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः" यजुर्वेद-३२-६ ।**

जो अन्तरिक्ष में (*रजांसि लोका*) लोक लोकान्तरों को विमानः = विशेष मान नाप तोल से रखता है । जैसे "छन्द" में एक मात्रा बढ़ घट जाने से 'छन्द" अशुद्ध हो जाता है—विगड़ जाता है ऐसे ही लोक लोकान्तरों का वज़न, ऊँचाई, लम्बाई चौड़ाई तनिक सी भी बढ़ घट जाये—तो आपस में टकराकर सब छिन्न भिन्न हो जायें ॥

अतः संसार बनाने वाले का ज्ञान वह ही हो सकता है जो छन्दों-बद्ध हो । इसलिये वेद ही **"गायत्री, अनुष्टुभ, बृहती, पंक्ति, जगती"** आदि सात छन्दोंमें है । अतएव वेद ही "ईश्वरीय ज्ञान" है । ईसाई, मुसलमानों की पुस्तकें कोई छन्दोबद्ध नहीं है—अतः संसार बनानेवाले की ये पुस्तकें नहीं हैं ।

१३. "भू गोल—ख गोल"

सृष्टिकर्त्ता के प्रदत्त ज्ञान में सृष्टि के सच्चे नियमों का वर्णन होना चाहिये, वेद हमें उपदेश देता है कि **"ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । यजुर्वेद-४०-१ ।**

अर्थ :—यह सब संसार ईश्वर द्वारा बसाया हुआ है और वह स्वयं भी इसमें बसा हुआ है । जो कुछ चलते हुये में चलता हुआ है । इसमें कोई वस्तु स्थिर नहीं है । सूर्य, चन्द्र, तारे-सितारे सब दोहरी गति से चल रहे हैं । एकहरी गति से कोई नहीं चलता—क्योंकि वेद कहता है **"जगत्यां जगत्"** = चलते हुये में चलता हुआ । पृथिवी स्वयं भी घूमती है जिससे दिन-रात बनते हैं और सूर्य के चारों ओर भी घूमती है जिससे ऋतुएँ (ग्रीष्म वर्षा शरद् हिमः) बनती हैं यही **"दोहरी"** गति है ।

"आयं गौः पृश्निरक्रमीत्-असदन्मातरं पुरः।
पितरञ्च प्रयन्त्स्वः"।

यजुः ३-६।

अर्थात् यह "भूगोल" जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है। अतः भूमि घूमा करती है।

अहस्ता यदपदी वर्धते क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम्।
शुष्णं परि प्रदक्षिणत् विश्वायवे निशिश्नथः॥

ऋ०। १०। २२। १४

अर्थात् क्षाः = पृथिवी इसके हाथ नहीं है, पाँव नहीं है। तब सूर्य की प्रदक्षिणा करती है।

सविता यन्त्रैः पृथिवी मरम्णद स्कम्भेन सविताद्यामदृहत।
अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥

ऋ० १०। १४९। १

अर्थात् सूर्य अपनी किरण समूह से न टूटने वाले बन्धन से बाँध कर घोड़े की भाँति चारों ओर घुमाता है। ऋषि दयानन्दजी सत्यार्थ प्रकाश :—

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमाना निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्येन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

यजुः ३३-४३

जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्त्ता प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीय स्वरूप के साथ वर्त्तमान सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप, वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और सर्व मूर्तिमान् द्रव्यों को

२

दिखलाता हुआ सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान अपनी परिधि में घूमता रहता है ॥

"गौ" पृथिवी का नाम है, अर्थात "गच्छतीति गो"—जो सदैव चलती रहे। भूगोल खगोल इनके नामों से भी इनकी गति और स्वरूप बोध हो जाता है। पृथिवी तथा आकाश गोल हैं ॥

१४. इन वेद मन्त्रों में जो वर्णन है वह सब सृष्टि में प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होता है। तो इस **नियम** के अनुसार **"संसारचित्र"** और **"जुगराफियः"**=भूगोलविज्ञान. एक होना चाहिए। यह केवल वेद में ही पाया जाता है और किसी **"इलहामी"** पुस्तक में नहीं पाया जाता। अतः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये ही चारों वेद सृष्टि की आदि में चारों ऋषियों अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य—अङ्गिरा पर ईश्वर की ओर से प्रकाशित हुये।

"बाईबल"

१५. १—जिसने मुझे देखा उसने बाप को देखा। **योहन्ना १४-९** ॥

२—और यसू बपतिस्मा लेकर फ़िलफ़ौर पानी के पास से ऊपर गया और देखा उसके लिये (यसू के लिये) आसमान खुल गया और उसने खुदा के रूह को कबूतर या फ़ाखता की मानिन्द उतरते और अपने ऊपर आते देखा। **मत्ती-३-१६**।

३—और **"रूहुलकुदुस"** जिसमानी सूरत में कबूतर की मानिन्द इस पर (यसू पर) उतरा और आसमान से आवाज़ आई कि तू मेरा प्यारा बेटा है। **लूका-३-३२**।

४—खुदा का याक़ूब से कुश्ती लड़कर मग़लूब होना (दब जाना, कमज़ोर पड़ जाना) और उसकी रान की नस मल कर लंगड़ा करके अपनी रिहाई पाना। पैदाइश। ३२। २४-३२ ॥

५—खुदा का "वख़ाना अब्रहाम" (इब्राहीम के घर) व "सरः" बोज़ः = स्त्री अब्राहाम रोटियाँ, घी, दूध व मोटा ताज़ा बछड़े का मांस खाना। (पैदाइश १८। ८-१ ॥)

"हजरत मसीः के माता पिता दोनों हैं"

१—और उन्होंने कहा कि "यसूः" यूसफ़ का बेटा नहीं जिसके बाप को हम जानते हैं। अब क्योंकर कहता है कि मैं आस्मान से उतरा हूँ? योहन्ना-६। ४२ कौल यहूदी लोगों का ॥

२—क्या वह "मर्यम" का बेटा "बढ़ई" नहीं? और याकूब और यूवियस और यहोवा व शमऊन का भाई नहीं? और क्या इसकी बहने हमारे पास यहाँ नहीं हैं? मरकस, ६। २ कौल अवामुन्नास

३—क्या वह "बढ़ई" का बेटा नहीं? और इसकी माँ मर्यम नहीं कहलाती। मत्ती–१३। ५५ कौल खास हमवतनी,

४—और जिस वक्त माँ बाप इस लड़के यसूः को अन्दर लाये थे-ताकि इसके लिये शरः के दस्तूर पर अमल करें। लूका २। २७ कौल लूका,

५—और इसका बाप और इसकी माँ इन बातों पर जो उसके हक़ में कही जाती थीं तअज्जुब करते थे।

लूका २। ३३ कौल-लूका ॥

बाईबलके इन वाक्यों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक=*ओमनिप्रेजेएट* है, *आल-माईटी=सर्वशक्तिमान्* है। *आलनोइंग=सर्वज्ञ* है। अतः वह *ओमनिप्रेजेएट=*सर्वव्यापय होने से कबूतर या फ़ाखतः, की तरह आता जाता नहीं। जहाँ आना है वहाँ तो पहले से है ही—आयेगा

क्यों ? परमात्मा सबको भोजन देता है स्वयं वह परिपूर्ण है। वह दूसरे के घर में रोटी गोश्त कभी नहीं खाता पशु हिंसा नहीं करता वह दयालु है प्रेम पूरित है ॥

"कुरआन"

१६. १—"व इज़स्समाऽऽओ कुशेतत्"

सूरत, ८१।

अर्थः—और जब आसमान का छिलका उतारे ॥

यदि आसमान बनानेवाला कुरआन बनाया होता-तो उसे ज्ञान होता कि गैरमुजस्सिम = निराकार वस्तु है इसका छिलका नहीं होता। अतः यह ईश्वरकृत नहीं है।

२— "व ज़ैयन्नस्समा अद्दुनिया वे मसबीहव हिफ़ ज़ा।"

सूरत ४१ ॥

अर्थः—और रौनक़ दी हमने "वरले" आसमान को चिरागों से ॥ कुरआन बनाने वाले को यदि खगोल का ज्ञान होता तो वह तारों-सितारों को हमारे जैसे लोक-लोकान्तर लिखता, चिराग़ = दीपक क्यों लिखता। अतः यह ईश्वरीय ज्ञान नहीं है।

३ – "अलम् नज़् अलिल अर्ज़ मिहादा"।

"वल जिबाल औतादा" ॥

सूरत, ७८।

अर्थः—क्या हमने जमीनको "फ़र्श" नहीं बनाया ? और पहाड़ों को मेखें ॥

४— "व अलकाफ़िल अर्जे र वासिय अन्तमीदवेकुम्"।

सूरत, १६।

अर्थः—और डाले ज़मीन में बोझ–कि कभी झुक पड़े तुमको लेकर ॥

२—"व इलल् अर्जे कैफ़ सुतेहत" ।

सूरत, ८८।

अर्थः—और जमीन पर (नहीं देखते कि) कैसे साफ़ बिछाई है ॥

जब हम अपने ऊपर घूमने वाले ग्रहों को "गोल" प्रत्यक्ष देखते हैं—तो पृथिवी कैसे "फ़र्श" की तरह हो जायेगी। जब समुद्र में चलने वाले जहाज़ का पहिले निचला भाग अप्रत्यक्ष होता है—पुनः बीच वाला भाग, तब ऊपर वाला भाग "पताका" सहित छिप जाता है। तो पृथिवी गोल हुई—चपटी कैसे हुई।

सृष्टि के आदि से आज तक अनेक बार "भूकंप" आये, पहाड़ फट गये—नगर ध्वस्त हो गये—परंतु पहाड़ों में मेखे ठोकी हुई कुछ न कर पाईं—अपितु एक "भूचाल" के धक्के में साफ़ हो गईं।

अतः ऐसी २ पुस्तकों को इल्हामी=ईश्वरीयज्ञान कहना—"ईश्वरीय-ज्ञान" की तौहीन=मानहानि है।

"वेदामृत"

१७. १—आर्य पाठकवृन्द ! आइये मैं आपको "ईश्वरीयज्ञान" का अमृत पिलाऊँ, जिसको पीकर ऋषि, मुनि, महात्मा "मोक्षानन्द" की प्राप्ति करते हैं:—

"रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत
मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मय" ॥

यजुर्वेद—२९ । ४३

अर्थः—*सुषारथिः रथे तिष्ठन्*=सुन्दर सार्थी रथ में बैठ कर।

यत्र यत्र कामयते=जहाँ जहाँ चाहता है। *वाजिनः पुरो नयति*= घोड़ों को हाँक ले जाता है। *अभीशूनां महिमानं पनायत*=उन बागडोरों की महिमा को देखो। *पश्चात् रश्मयः मनः अनुयच्छन्ति*= जिनको पीछे से संकल्पवान् मन प्रेरित कर रहा है॥

२— "आत्मानं रथिनं विद्धिः शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"॥

कठ उपनिषद्

अर्थ - शरीररूपी रथ में आत्मा रथी है। बुद्धि सारथी है। मन प्रग्रह=लगाम है। इन्द्रिय घोड़े हैं। विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता से "आत्मा" भोग करने वाला है॥

३— अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

अथर्ववेद १०।२।३१

अर्थः—यह शरीर जिसमें आठ चक्र और नौ (इन्द्रिय) द्वार हैं। देवों (इन्द्रियों) की पुरी अयोध्या=न योद्धुं शक्या=जिसको जीत नहीं सकते हैं। इसमें ज्योति से पूर्ण स्वर्ग का कोष=मस्तिष्क है। जिसे स्वर्ग कहते हैं।

मस्तिष्क को घट या स्वर्ग कहा गया है। *मस्तिष्क* ही सोम पूरित द्रोण-कलश या अमृत कुम्भ है॥

अष्ट चक्रः—नीचे आठों चक्रों के स्थान और काम दिये जाते हैं।

१—*मूलाधार* चक्रः—यह इस नगरी का ' मूलाधार है । पृष्ठ वंश समाप्त के स्थान में है । रीढ़ की हड्डी के नीचे ' गुदा" के पास, इसमें उत्तेजना (जाग्रत होने से) प्राप्त होने से ' वीर्य" स्थिर अर्थात् ऊर्द्ध रेता होता है ।

(२) *स्वाधिष्ठान* चक्र :—मूलाधार से ४ अंगुल ऊपर है । उसके उत्तेजित होनेसे "प्रेम" और "अहिंसा" के भाव जाग्रत होते हैं । शरीर के रोग और थकावट दूर हो कर स्वास्थ्य लाभ होता है ।

(३) *मणिपूरक* चक्र :—ठीक नाभी स्थान में है । इसमें उत्तेजना होने से शरीर संगठित रहता है ।

(४) *सूर्य* चक्र :—नाभी से कुछ ऊपर "हृदय" की धुकधुकी के ठीक पीछे "मेरु दण्ड" के दोनों ओर इसका स्थान है । इसका अधिकार सभी भीतरी "अवयवों" पर है । क—प्राण का खजाना यहाँ ही रहता है । ख—इस पर चोट लगने से तत्काल मरण होता है । पहलवान इसकी चोट से "प्रतिद्वन्दी" को जीत लेते हैं । ग—प्राण के लिये "*मस्तिष्क*" को भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । घ—यह पेट का "*मस्तिष्क*" समझा जाता है ॥

(५) *अनाहत* चक्र :—हृदय स्थान में है । इससे बल, प्रेम, भक्ति उत्पन्न होते हैं हृदय के समस्त व्यापार इसी से चलते हैं ॥

(६) *विशुद्धि* चक्र :—कण्ठ में है । कण्ठ कूप में इसका स्थान है । इसमें उत्तेजना होने से वाह्य जगत की विस्मृति तथा आन्तरिक जगत की जागृति होती है । तारूण्य उत्साह पैदा होता है ।

(७) *आज्ञा* चक्र :—भ्रुवोर्मध्ये=दोनों भौं के बीच । इसमें उत्तेजना देने से शरीर पर प्रभुत्व, नसों में स्वाधीनता, और अनुभव होने लगता है कि "आत्मा" की प्रेरणा से ही शरीर में सब कुछ हो रहा है ॥

(८) सहस्रार चक्र :—तालु के ऊपर "मस्तिष्क" में है। समस्त शक्तियों का "केन्द्र" है ॥

नव द्वार=९ दरवाजे हैं। **सप्त नद्=१** मुख। २ नाक छिद्र। २ आँख। २ कर्ण विवर। ये सब मिलकर सात हुये। १ मूत्र इन्द्रिय। १ शौच इन्द्रिय ॥ ७+२=९ हुये ॥

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र,
जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

यजुर्वेद, ३४-५५।

अर्थ :—सप्त ऋषि इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं। प्रमादरहित होकर सात इसकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। सात बहिर्मुखी प्राण-धारायें या इन्द्रियां सोते समय सोने वाले के लोक में (शरीर में) सो जाते हैं। उस समय भी स्वप्नरहित (न सोने वाले) दो देव (प्राण तथा अपान) जागने वाले "आत्मा" के साथ स्थिर रहकर जागते रहते हैं ॥

नोट :—ऋषि संज्ञा इसलिये इन्द्रियों की है कि **"साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयः सन्ति"**—जो वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं उन्हें **"ऋषि"** कहते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने विषय का साक्षात्कार=प्रत्यक्ष करती हैं—अतः इन्हें ऋषि संज्ञा दी गई। अन्वर्थकी संज्ञा है। यथा नाम तथा गुण है।

यह विधाता की विचित्र देन है कि मानुषी शरीर के **"सप्तर्षि"** इसी देव कोष या स्वर्ग नामक "शिर" में ही प्रतिष्ठित हैं। शिर सात रन्ध्र या विवर (*आकाशस्थ*) सात ऋषियों की भाँति चमकते हैं। शरीर में "शिर" ही ज्योति या चेतना का केन्द्र है। इसी में ही पाँचो

ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ज्ञान वा ज्योति ही देवों का प्रकाश है। ज्ञान के विविध केन्द्र ही विविध देव हैं। वे सब देव स्वर्ग नामक शिर में ही बसते हैं।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं
सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रा मनागसो
अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥

अथर्ववेद ७।६।३।

अर्थ:—हम लोग स्वस्ति (कल्याण-मोक्ष) तक पहुँचने के लिये इस (शरीर रूपी) दैवी नाव पर आरूढ़ हैं। यह नाव "*अस्रवन्ती*" न रिसने वाली है। *स्वरित्रा* = सु-अरि-त्रा = अच्छे प्रकार विघ्नों से रक्षा करनेवाली, इसमें इन्द्रियरूपी बड़े सुन्दर डाँड़ = चप्पू लगे हुये हैं। *सुप्रणीतिम्* = सुघटित है निर्माण कौशल अद्भुत है। अदितिम् = अखण्डनीया, तथा देवों (कपिल-कणाद-गोतम-भरद्वाज) की जननी है। *सुशर्मा* = अच्छा सुख देने वाली। सुप्रतिष्ठित प्राण से सम्पन्न है। *सुत्रामा* = सुष्टु प्रकार से रक्षा करने वाले इन्द्र = ईश्वर की यह नाव है। इसमें पृथिवी से द्युलोक तक की सब रचना है। जीवात्मा को भवसागर पार करने के लिये दी गई है। परन्तु इसमें नियन्त्रण = शर्त यह है कि इसका 'यात्री' *अनागस* = समस्त पापों से रहित हो। अवश्य भवसागर से पार स्वस्ति = कल्याण-मोक्ष की प्राप्ति करेगा।

१८. जैसे वायु से *चिराग* = चिर तक आग रहे जिसमें *चिराग* = दीपक यह (वायु से) डरता रहता है—थोड़ी अधिक वायु से समाप्त हो जाता है—ऐसे ही ये सम्प्रदायवादी "तर्क" रूपी वात से भयभीत हो जाता है। इन्हें डर ही नहीं लगता अपितु सच है कि "बुद्धि-

पूर्वक" विचार करने से समाप्त हो जाते हैं। परन्तु वेद सूर्यवत स्वतः प्रमाण है "सूर्य" को जैसे वायु से कोई भय नहीं इसी प्रकार "वेद" को तर्क की कसौटी पर कसने से और बुद्धि बल से जाँचने पर कोई भय नहीं। *कणान् अत्तीति कणादः* अर्थात खेतों में से कण बीन कर खाये तपस्या की और जगदन्तर्वती समस्त पदार्थों को छः भागों में बाँट कर *"अनैलसिस"* करके अर्थात् *विश्लेषण* द्वारा अनेक विद्याओं का प्रकाश किया, *पृथिवी भ्रमण भूकम्प*, *जल का ऊर्ध्वगमन*, बरफ *आदि का जमाव*, *आग्नेय विद्या*, इत्यादि पदार्थों का सुन्दर निरूपण इस दर्शन में विशेष रूप से किया है—अतः इसका नाम "वैशेषिकदर्शन" है और विशेषता यह भी है कि जड़ पदार्थों के साथ "चैतन्य" जीवात्मा को पदार्थों का *साधर्म्य* = साधारण धर्म, *वैधर्म्य* = विशेषधर्म का परिज्ञान कराके तत्वज्ञान द्वारा, ईश्वर के साक्षात्कार द्वारा "निःश्रेयस" की प्राप्ति कराई है इतने बड़े पदार्थ विज्ञाता की वेद विषयक बड़ी विस्पष्ट धारणा है कि वेद में सब कुछ बुद्धि-पूर्वक है :—

"बुद्धिपूर्वावाक् कृतिर्वेदे" वैशेषिक दर्शन–६। १। १।

१९ अर्थ :—वेद में (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है अर्थात् सत्य असत्य विवेक करने वाली बुद्धियों के द्वारा परिक्षित, सुन्दर तर्कों द्वारा *ऊहापोह* = तर्क वितर्क द्वारा निखरा हुआ सत्य *वह ईश्वरीय ज्ञान है*।

"निम्न लक्षणों से लक्षित ईश्वरीय ज्ञान होता है"

२०. १—किसी देशविशेष की भाषा में न हो—जिससे पढ़ने में सबको *समान श्रम* हो

२—जिसमें किसी जाति विशेष के लिये *पक्षपात* न हो।

३—आदि सृष्टि में मनुष्य उत्पत्ति के साथ ही आविर्भाव हो।

४—*वदतो व्याघात्* = अपने कहे को स्वयं न काटने वाला हो।

५—सृष्टि क्रम के विरुद्ध न हो। जैसे बिना बाप के बेटा (यसूः) बिना माँ के बेटी (हव्वा)

६—*मन्तिक, रियाज़ी, फलसफा* के विरुद्ध न हो, तर्क से न कटे ॥

७—किसी विशेष पुरुष पर "निष्ठा" = ईमान को न कहे। केवल ईश्वर भक्ति का उपदेश दे।

८—बुद्धि को बढ़ाने वाला हो—जिससे मनुष्य की बुद्धि *सत्यनिष्ठ* रह सके।

९—जिसमें किस्से कहानी-असम्भव बातें न हों

१०—सत्य विद्याओं का भण्डार—अर्थात् जिसमें सब सत्य विद्यायें हों।

"उप संहार"

२१. समय २ पर विशेष २ पुरुषों द्वारा विशेष २ पुस्तकों के रूप में **"ईश्वरीयज्ञान"** का प्रादुर्भाव होता रहता है, **ऐसा** विचार ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी आदि संप्रदाय के लोग मानते हैं। **परन्तु** इस का फल बड़ा भयंकर-खतरनाक-संसार में उथल पुथल तथा बेचैनी पैदा करने वाला होता है।

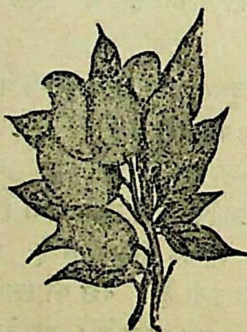
और वह यह कि दूसरा ज्ञान आने पर वे पहिले को रद्दी बताता है, और तीसरा आने पर पहिले वाले दोनों त्रुटि पूर्ण बताता है—बस इन सब में परस्पर युद्ध आरम्भ हो जाता है। और युद्ध लड़ाई झगड़ा सदैव बढ़ता जायेगा समाप्ति कभी नहीं होगी। जिसे आज कल आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मन्दिर तोड़े जाते हैं, मस्जिदें ढाई जाती हैं, गिरजों में आग लगाई जाती है। देश की स्वतंत्रता में बाधा होती है। अपने २ **सम्प्रदाय** का पक्ष करते हैं। सब देशों में आये दिन बखेड़ा होता है। क़तलेआम होता है। पुस्तकालय जलाये जाते हैं। सम्प्रदायिक पार्टियों से देश देशान्तर में अत्याचार-अनाचार-भ्रष्टाचार-लूट पाट

बढ़ती है। यह प्रत्यक्ष है। अतः वह परमात्मा तो दया का सागर-रहमान और रहीम है-करुणानिधिः है, जिसने संसार की रचना सब प्राणियों के सुख शान्ति के लिये की है। वह बीच में ऐसी लड़ाई झगड़े की **पुस्तकें** भेजकर क्यों संसार को दुःखसागर बनायेगा।

यह सब कुछ स्वार्थी विषय लोलुप धर्मध्वजी लोगों ने अपने लूटने खाने के लिये जाल रचे हैं-और अब स्वयं ही उस जाल में फँस गये हैं। निकलना चाहते हैं-परन्तु निकल नहीं पाते।

ईश्वर इनको सुमति दें-आपस के झगड़ों को छोड़ कर जैसे **"आदिरचित"** सूर्य, चन्द्र. जल. वायु पृथिवी आदि सुन्दर पदार्थों को विना वैर विरोध के एकमत होकर मानते हैं। **वैसे ही** आदि रचित **"वेदज्ञान"** को एकमत होकर जाने औ माने तभी कल्याण होगा।

अतएव ईश्वरप्रदत्त वेदमयी कल्याणी वाणी सदा सर्वदा सर्वथा सेवनीया।



॥ ओ३म् ॥

"इतिहास और वेद"

"पूर्ववृत्त कथा युक्त मितिहासं प्रचक्षते"

१— इति = एवं, ह = किल, आस = ऐसा हुआ था। इस अर्थ से ज्ञात होता है कि यह सब भूतकाल के बन्धन हैं। परन्तु वेद त्रिकालादूर्ध्व है— ईश्वर के त्रिकालादूर्ध्वं होने से (हेतु) है। क्योंकि गुण गुणी का अभेदान्वय होता है :—

यो भूतश्च भव्यश्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व. १०।८।१

यो भूत भविष्यद्वर्त्तमानान् कालान् सर्वं जगच्चाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति (ऋषि दयानन्दः) इस वेद के प्रमाण से तथा *दयानन्दर्षि की साक्षी* से सिद्ध है कि वेद में इतिहास नहीं हो सकता।

२— ईश्वर में सब काल हैं— अतः वेदों में सब कालों का वर्णन है, वेद देश काल के बन्धन में नहीं! इसमें *पाणिनि मुनि की भी साक्षी* है।

यथा—

छन्दसि—लुङ् लङ् लिट;

अष्टाध्यायी ३।४।६

व्यत्ययो बहुलम् ।

अष्टाध्यायी ३।१।८५

बहुलं छन्दसि

अष्टाध्यायी

इसमें वेद के काल को, वचन को, लिङ्ग को, पुरुष को, विभक्ति आदि को स्वतन्त्र—आजाद छोड़ दिया है ! परन्तु इतिहास इनसे बँधा हुआ है।

३—मुनिप्रवर—सबके गुरु दादा "महर्षि पतञ्जलि" ने कितनी विस्पष्ट तथा सुन्दर साक्षी दी है:—

सुप्तिङुपग्रह लिङ्गनराणां कालहलच्स्वर कर्तृ यङाश्च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥
क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्ये, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

(महाभाष्य)

यथा अस्मत्तन्त्र से स्वतन्त्र ईश्वर है, एवं उसकी कल्याणी वाणी भी है। अतः सब बन्धनों से बँधा हुआ इतिहास उसमें अपना स्थान नहीं पा सकता।

४—लौकिक इतिहास सब अनित्य होते हैं। वेद में नहीं आ सकते। वेद नित्य है, अविनश्वर है—वेद स्वयं कहता है:—

"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"
अथर्ववेद।

देव (ईश्वर) का काव्य पढ़ो। न मरता है न बूढ़ा होता है। अतएव नश्वर इतिहास वेद के माथे मढ़ा जाता है–इसमें वेद और ईश्वर के स्वरूपको न समझने का फितूर (विघटन) है। वेद की इसमें क्या खता (दोष) है ?

५— ऋषीणां नामधेयानि याश्चवेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥

अर्थ—शर्वरी–अर्थात् प्रलय के अन्त में (आरम्भ सृष्टि में ही) ही वह अजन्मा ईश्वर ऋषियों के नाम और योग्यता विद्या विषयक उपाधियों आदि का पूर्ण ज्ञान दे देता है।

बुद्धिपूर्वक विचार करने से ज्ञात होता है कि शर्वरी के अन्त में वेद आविर्भूत हुये–तो उस समय मनुष्यों के इतिहास कहाँ से प्राप्त होंगे ? क्योंकि उस समय न तो मनुष्योंको बोलना आता था, और न ही परस्पर व्यवहार का ज्ञान था। ग्राम, देश, मुल्क तो बने ही न थे। अतः किसी ग्रामीण या देशी भाषा का नामोनिशान भी न था। सभ्यता और संस्कृति किस चिड़िया का नाम है–यह वे लोग बिलकुल ही न जानते थे। उस समय कोई किसी का पिता न था–और न कोई किसी की माता थी। कोई चाचा, ताऊ आदि रिश्ते भी न थे। तो फिर इन सम्बन्धों के वाचक शब्द कहाँ से आये ? *अपत्यार्थ वाचक शब्द–तद्धितान्त, समासान्त, तरप्, तमप्* प्रत्यान्त शब्दों का प्रयोग *कृदन्त, सन्नन्त, यङन्त, णिजन्त* इत्यादि का–शब्द-अर्थ-सम्बन्ध शून्य पुरुषों को ज्ञान नहीं हो सकता–अतः ऐसे पुरुष "*वेद में इतिहास*" क्या अपना इतिहास भी नहीं लिख सकते।

६—हाँ, एक रिश्ता उनमें था—जिसको वे नहीं जानते थे। उसी रिश्ते वा सम्बन्ध को **"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** (योगदर्शन) अर्थात् काल के बन्धन में न आने वाले गुरुओं के गुरु परब्रह्म परमात्मा ने कर्मयोगनिष्ठ पवित्र हृदयों वाले आत्माओं में "प्रकाश किया":—

बृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रं यत् प्रेरता नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

ऋ० १० । ७१ । १

हे वेदपते परमात्मन्! वेद वाणी का (*प्रथमम् = उत्पत्यनन्तरम्*) इतर वाणियों के उच्चारण के पूर्व ही (*नाम धेयं दधानाः*) पदार्थों के नामकरणाभिलाषी ऋषियों ने (*यत्*) जिस (*वाचः अग्रम्*) वाणियों की अग्रगण्या बाणी अर्थात् वेद वणी को (*प्रैरता*) उच्चारण करते हैं (*यत्-एषां श्रेष्ठम्*) जो इन सब में श्रेष्ठ है। (*यत्-आरिप्रम्*) जो दोष रहित है। (*तत् एषाम्*) वह इनके (*गुहाम्*) हृदय रूप गुहा में (*निहितम्*) डाला हुआ (*प्रेणा आविः*) प्रेम के कारण प्रकट हुआ। कुरान भी इसका इक़बाली है :—

"व अल्लमा आदमल् अस्मा अ कुल्लहा।" बक़र—

और सिखाये आदम को नाम "*कुल्लहा*" = सारे (सब चीजों के)। तब उन्हें रिश्तों का ज्ञान हुआ :—ऋग्वेद-५-५९-६।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठा स उद्भिदो
ऽमध्यमासो महसा विवावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्नि मातरो दिवो
मर्या आनो अच्छा जिगातन ॥

ऋग्वेद।

अर्थ—ते = सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले मनुष्य(*उद्-भिदः*) वनस्पति आदि की भाँति उत्पन्न हुये (*अज्येष्ठाः, अकनिष्ठासः, अमध्यमासः*) उनमें कोई ज्येष्ठ कनिष्ठ व मंझला न था, सब आयु में समान थे। (*महसा वावृधुः*) तेज से समुन्नत हुये। (*सुजातासः*) उत्कृष्ट जन्मा लोक (*जनुषा पृश्नि मातरः*) जन्म से प्रकृति माता थी जिनकी (*दिवा मर्या*) मानो प्रकाशस्वरूप ईश्वर पुत्र (*न अच्छा जगातवे*) इम सब की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट। कुरआनमजीद में भी कहा है :—

वल्लाहो अम्बतकुं मिनल् अर्द़े निबाता

और अल्लाह ने उगाया तुमको ज़मीन से *निबतात* की तरह॥

इन पवित्र आत्माओं से निकला उपदेश सब मनुष्यों ने सुन कर ग्रहण किया इसे ही *श्रुति* कहते हैं। इस में किसी ऋषि, मुनि, महात्मा, पण्डित या मनुष्य अथवा राजा रानी का इतिहास नहीं हो सकता—क्योंकि ये सब अनित्य हैं और बदलने वाले हैं। वेद एकरस *"इटर्नल" "अनचेञ्जेबुल" = अपरिवर्त्तनशील* है॥

शङ्का

उर्वश्यप्सरा…। तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द, तदभि-वादिन्येषर्भवति—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करेत्वा ददन्त॥

ऋग् ७। ३३। ११।

अर्थ :—उर्वशी अप्सरा का नाम है—उसके दर्शन से मित्र और वरुण का वीर्य्यपात हो गया। उसको कहने वाली "उतासि मैत्रा-वरुणो" यह ऋचा है।

और तू है मित्र वरुण का पुत्र, हे वसिष्ठ ? हे ब्रह्मन् ! उर्वशी के मन से तू पैदा हुआ है। (*दैव्येन ब्रह्मणा*) दिव्य ब्रह्मा से (*द्रप्सम्*) पुष्ट हुआ, सारे देवताओं ने पुष्कर में तुझे धारण किया।

यह प्रत्यक्ष दुनियादारों के समान व्यवहार है। इतिहास भी है और गंदा भी है। ऐसी पुस्तकें कभी "ईश्वरीय ज्ञान" हो सकती हैं ? ऐसे ही अनर्थों को लोगों ने देख कर कहा है - **त्रयो वेदस्य कर्तारः भाण्ड धूर्त्त निशाचराः ॥**

—: समाधान :—

यदि इन नामों को स्त्री पुरुष नाम वाले मनुष्य माना जाये तब तो आप की शंका ठीक मानी जा सकती है। परन्तु ये तो वैदिक **शब्द** "यौगिक" हैं। इन्हीं शब्दों की "निरुक्ति" के लिये ही तो **"निरुक्त-शास्त्र"** की रचना हुई है। अतः **"वैदिक कोष"** तथा **"वैदिक व्याकरण"** से वेद में शब्दों के अर्थ होते हैं **वेद का अर्थ वेद से भी होता है ॥**

—: उर्वशी :—

उर्वशी—अप्सरा वाची है। "*उरु-अभ्यश्नुते*" = अर्थात् बहुत व्यापक होती है "*विद्युत*" व्यापक होती है ! उरु पूर्वक "*अशूङ्-व्याप्तौ*" से "*इन*" और "*ङीप्*" (उणादि-४-११८) *उरु + अश् + ई = उर्वशी*, । *उरुभ्यामश्नुते*=विस्तृत हो पदार्थों में व्यापक होती है। विद्युत "धन-ऋण" इन दो शक्तियों से व्याप्त है। **उरुवशः-अस्याः** = इनका वश बहुत है। प्रायः सब पदार्थों में पाई जाती है। अतः यह कोई स्त्री विशेष नहीं है। जिस से "इतिहास" सिद्ध हो सके। यह एक "अन्तरिक्ष" में रहने वाला "पदार्थ" है।

—: अप्सरा :—

अप् पूर्वक "सृज्-सरपणे" धातु से "असि" प्रत्यय (उणादि-

४-११७) अप्सु = जलेषु-सरति = गच्छतीति "अप्सरा"। जल में "विद्युत" भागती है।

—: मित्रावरुणो :—

मित्रा वरुणौत्वा वृष्ट्यावताम् ।

मनुः २-१६ ॥

मित्रा वरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् ॥

अथर्व-५२-४-५ ॥

इन ही के द्वारा वृष्टि होती है। ये ही वर्षा जल के निर्माता हैं। अथवा इन्हीं के निमित्त से वर्षा जल का निर्माण होता है जिससे "सोम" आदि औषधि, तथा गुल्म, लता, फल, फूल और विविध प्रकार के अन्नों का उत्पादन होता है।

"हिन्दी कैमिष्ट्री" :—आधुनिक वैज्ञानिक "आक्सीजन" (Oxygen) "हाईड्रोजन" (Hydrogen) नाम दो "गैसस" के मेल से अर्थात् "सम्मिश्रण" करके "जल" निर्मित होना मानते हैं।

—: आक्सिजन या ओषजन :—

इस "गैस" में किसी प्रकार का रंग, गंध, वा स्वाद नहीं रहता। वायु की अपेक्षा यह कुछ भारी है। यह मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि सब का "प्राण' होता है। जल में रहने वाले प्राणी भी इसी के कारण जीवित रहते हैं। क्योंकि यह पानी में घुलता है। मछली आदि जल जीव पानी में इसी का आकर्षण करके जीते हैं। यदि हम किसी बन्द बर्त्तन में पानी भर कर मछली उसी में छोड़ दें--तो मछली प्राणवायु न मिलने से मर जायगी। क्योंकि वायु प्रविष्ट न होने से "आक्सिजन" मिलना बन्द हो जायगा। *आक्सिजन* ही पानी में घुलता है तो प्राण मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसका मिलन-

शील स्वभाव है। यह कुछ थोड़ी सी खराब "गैसिस" को छोड़कर समस्त तत्वों में मिल जाता है। अतः इसका नाम "मित्र" है। यह 'नाइट्रोजन'' नामक गैस से मिलकर "वायु" का निर्माण करता है और 'हाइड्रोजन" नामक "गैस" के साथ मिलकर "जल" का निर्माण करता है। यह "हाइड्रोजन" = हाइडर-जर्मन भाषा का शब्द "जलार्थ" वाची है। Gon = जन = उत्पन्न करना, अर्थात् जल का उत्पन्न करने वाला।

वरुणोऽपामधिपतिः समावतु।

अथर्व ५-२४-४॥

आर्य्यभाषा में इसे "अव्जन-अभिद्रवजन" कहते हैं। यह "हैड्रोजन" के लिए विशेष उपयुक्त है।

आक्सिजन—आक्सिस् का अर्थ है "अम्ल" और "जन" का अर्थ है उत्पन्न करना, अर्थात् यह अम्लों को उत्पन्न करने वाला है! यद्यपि यह "थ्यूरी" सब जगह चरितार्थ नहीं होती-परन्तु विपरीत इसके "हइाड्रोजन" का प्रत्येक अम्ल में होना *लाजमी* है। "आक्सिजन" का आर्यभाषा में नाम "ओषजन" समीचीन है। क्योंकि यह उष्णता तथा "अग्नि" का उत्पन्न करने वाला है। यही "प्राण" है—यही "मित्र" है!

—:उद्रजन या हाइड्रोजनः—

अद्याऽवधि उपलब्ध समस्त 'गैसिस" से यह "गैस" हलकी है। वह औरों का "मीटर" है। इसमें भी किसी प्रकार का गंध जायका (स्वाद) रंग आदि नहीं है। इसका हलकापन जानने के लिए एक रबड़ का "गुब्बारा" लें, उसमें इसे भर दे! आकाश में उड़कर दृष्टि से ओझल हो जायगा। यह इस "गैस" का हलकापन या उन्नयन शक्ति

है। जो गुब्बारे को ऊपर ले जा रहा है। अतः उसे "उदान" नाम दिया गया है–सो उपयुक्त ही प्रतीत होता है। शतपथ में भी कहा गया है। "प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ" ३-६-१-१६॥

प्राण "मित्र" है। उदान "वरुण" है। पाश्चात्य वैज्ञानिक इसे आकाश में देखते हैं।

व्युत्पत्यर्थ भी देखिये:—*उत्=ऊर्ध्वंनयतीति–उदानः, उन्नयनात्-उदानः*, इति व्यास भाष्यम्। "*उन्नयनादूर्ध्वगमनात्-इति वाचस्पति-मिश्रः*। अर्थात् जो किसी वस्तु को ऊपर ले जाय उसे "उदान" कहते हैं। योगविभूतिपाद ३ :—

उदान जयाज्जल पंककण्टकादिष्वसङ्गः उत्क्रान्तिश्च।

अर्थात् ऋषि-मुनि "उदान" की सिद्धि प्राप्त करके जल, नदी, नद, समुद्र, पंकपूर्णस्थलों में- कण्टकाकीर्ण वनों में नंगे पांव सानन्द स्वच्छन्द विचरते हैं। मृत्यु के समय ऊर्ध्वगति होती है। यह "उदान" की महिमा है। "उदानः कण्ठ मध्यगः" यह "उदान" कण्ठ के मध्य में स्थित है। स्वर के उच्चारण में सहायता प्रदान करता है। इससे सम्यक् सिद्ध हुआ कि "वरुण" जल उत्पन्न करता है, मित्र के साथ मिलकर॥ अतः "प्राण और उदान" दो शक्तियाँ मिलकर जल उत्पन्न करती हैं। इन्हें ही मित्र और वरुण कहते हैं। अतः उर्वशी को इनके साथ मिलाओः--

१. आक्सिजन = ओषजन = प्राण = मित्र।

२. हाइड्रोजन = उद्रजन = उदान = वरुण।

मित्र और वरुण मिलने से सोम = जल उत्पन्न होगा-कब ? जब कि "उर्वशी" = विद्युत का योग होगा। तभी वृष्टि होती है। इसी को "*उर्वशी*" के दर्शन से सोम = वीर्य = जल-वर्षा जल का पतन कहते हैं।

वसिष्ठ = गैस फार्म का जल है। विद्युत में जब दोनों गैसिस गर्मी पाकर जल बन जाती हैं–तो यही *"वसिष्ठ"* की उत्पत्ति है।

—:अब मन्त्रार्थ देखिये:—

हे *वसिष्ठ!* = वृष्टि द्वारा फैले हुए जल! तू मित्र वरुण से उत्पन्न हुआ है। अर्थात् तू इनका पुत्र है। हे *ब्रह्मन्!* तू *उर्वशी* = विद्युत के मन से पैदा हुआ है। जल के रूप में परिवर्तित तुझको देवताओं के *"अन्न"* के निमित्त-अर्थात् सुन्दर खाने के योग्य *"अन्न"* पैदा करने के लिये सूर्य्य किरणे *"अन्तरिक्ष"* में धारण करती हैं।

विद्युतोज्योतिः परिसञ्जिहानं मित्रा वरुणा यदपश्यतां त्वां।
तत्ते जन्मो तैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वौ विश आजभार ॥

ऋ० ७-३३-१०

अर्थ—हे वसिष्ठ! फैले हुये वृष्टि जल! विद्युत की ज्योति से अपने पूर्व रूप को छोड़ते हुए जिस तुझको (*मित्रावरुणौ-अपश्यताम्*) मित्र वरुण वायुयें देखती हैं कि यह हम से उत्पन्न हुआ है। (*तत्ते-एक जन्म*) उससे तेरा एक नाम *"जन्म"* भी है। (*उत् यत् त्वा-अगस्त्य*) और जिस तुझको सूर्य्य ने (*विशः आजभार*) मनुष्य को प्रदान किया है। तू *"जन्म"* नामा है। अर्थात् तेरा नाम *"जन्म"* है।

इससे भी सिद्ध हुआ कि मित्र वरुण जल पैदा करने के साधन हैं। इस गहराई तक न पहुच कर लोग वेदों में "इतिहास" की कल्पना करते हैं। सो ठीक नहीं है।

कुछ ऐसे शब्द भी वेद में हैं जों लौकिक भाषा में अशलील प्रतीत होते हैं। परन्तु वैदिक वाङ्मय में वे अति सुन्दर अर्थ रखते हैं ॥

कुछ ऐसे लौकिक शब्द हैं जो वेद में पाये जाते हैं—जैसे मनुष्यों के

नाम इन को लोक से वेद में आया हुआ नहीं समझना चाहिये —अपितु वेद से लोक में आये हैं ।

यथा :—

नाम रूपेण च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम् ।
वेद शब्देभ्यः एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥

महाभारत ।

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक-पृथक ।
वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक संस्थाश्च निर्ममे ॥

मनुः ॥

संसार के सब पदार्थों के नाम और काम तथा एक दूसरे के साथ सम्बन्ध—आदि सृष्टि में ही परमात्मा ने वेद द्वारा निर्णय किये ॥

ऐसी अवस्था में वेदों में लेशमात्र भी "इतिहास" साबित नहीं हो सकता । हाँ—यदि तो "इतिहास" का अर्थ *"इतिहास की विद्या है"* तो अनित्य इतिहास न मानकर नित्य इतिहास अर्थात् विश्व के पदार्थों का *नित्य इतिहास* जो कि इनके ज्ञान विज्ञान का द्योतक है तथा *रूपकों* द्वारा *अलङ्कारों* द्वारा वेदों में दर्शाया गया है उसे मान सकते हैं—इससे कोई हानि या दोष नहीं है *—इष्टमेतत्* ॥ यथा :—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धा सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्ध श्रद्धापयेहनः ॥

ऋग् १० । १५१ । ५ ।

कामायनी श्रद्धा देवता है, ऋषिका भी श्रद्धा देवी है । हम श्रद्धालु पुरुष—प्रातः काल श्रद्धा को बुलाते हैं । दोपहर में श्रद्धा को बुलाते

हैं। सूर्य के अस्त वेला में श्रद्धा को बुलाते हैं—हे श्रद्धे ! "इहनः" = यहाँ हमको श्रद्धान्वित कीजिये।

—: आरोप :—

जहाँ पुरुष श्रद्धान्वित हो कर "श्रद्धा" में स्त्री पुरुष जैसा "*आरोप*" अर्थात् चैतन्यवत व्यवहार करता है (वस्तुतः तो वह जड़ है) बुलाता है। कोई सचमुच स्त्री पुरुष नहीं है इसी को "**आरोप**" कहत हैं। अर्थात् किसी पदार्थ में किसी विशेष धर्म का "अध्यारोप" कथन करना व मानना ही "आरोप" है। इसी से इतिहास की प्रतीति होती है। असल में यह '**इतिहासाभास**' है। अध्यारोपित वस्तु को निकाल देने से असल रह जाता है। ऐसी-ऐसी शंकायें तभी तक रहती हैं—जब तक कि मनुष्य "अध्यारोपों" तथा अलङ्कारों की विद्या नहीं प्राप्त करता।

—: रूपकालङ्कार का लक्षण :—

विषयी अर्थात् "उपमा" के रूप से विषय अर्थात् "उपमेय" का "उपरञ्जन' करना ही "रूपक" है।

—: *ब्राह्मण में आरोप* :—

तं श्रद्धा अब्रवीत् प्रजापते ! श्रद्धया वै श्राम्यसि, अहमु वै श्रद्धास्मि। मानु यजस्व।

श्रद्धा बोली हे प्रजापते ! श्रद्धा के साथ आप श्रम करते हैं। मैं ही श्रद्धा हूँ—मेरा यजन करो॥

यहाँ पर "*श्रद्धा*" कोई साकार पदार्थ नहीं है। न कोई स्त्री ही है। जो प्रजापति से बाते कर रही है। अपितु *अलङ्कार* से बातें करने की विद्या का द्योतक या प्रकाशक है। इसी से लोग सीखें॥

लोक में भी "आलङ्कारिक उक्तियें हैं" :—

"जो बैठना है पिकवृन्द बीच,
तो छोड़ रे काकः कटूक्ति नीच।
किंवा यही है तुझको बताना,
विभूषणं मौनम पण्डितानाम् ॥ १ ॥

हे चातक! तुम सुनो जी से,
आशा लगाना घनश्याम ही से।
न भूल जाना यह वर्ण संस्था,
महाजनों येन गताः स पंथा ॥ २ ॥

वयंतत्त्वान्वेषां मधुकर! हतास्त्वं खलुकृती-इत्यादि

उक्तियों में-काक चातक, मधुकर आदि को आलङ्कारिक भाषा में ही सम्बोधन करके कहा गया है! कोई सचमुच ये काकादिं सुनते थोड़ा ही हैं। अतः लोक वेद में जहाँ जैसी आलङ्कारिक भाषा हो— वैसा ही समझना चाहिये। *भ्रमवशात्* इतिहास की कल्पना नहीं करना चाहिये ॥

—: नाम प्रकाशक वेद :—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे! सप्त रक्षन्ति सदम प्रमादम् ॥
यजुः ३३-५५ ॥

१—गोतम। २—भरद्वाज। ३—विश्वामित्र। ४—जमदग्नि। ५—वसिष्ठ। ६—कश्यप। ७—अत्रि॥ ये ही सात ऋषि हैं। किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं ॥

बृहदारण्यकः—ये दोनो श्रोत्र गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं। अर्थात् दक्षिण श्रोत्र "गोतम" है। वाम श्रोत्र "भरद्वाज है। दक्षिण नेत्र "विश्वामित्र" है। वामनेत्र "जमदग्नि:" है। दक्षिण नासिका "वशिष्ठः" है। वाम नासिका "कश्यप:" है और वाणी "अत्रि:" है। (अत्तीति-अत्रि:) एवं जो नाना प्रकार से इन्द्रियों मे "प्राण" रक्षा करता है उसे "ऋषि" कहते हैं। "**प्राणो वै ऋषयः**,- शतपथ ॥ ये व्यक्ति विशेष ऐतिहासिक पुरुष नहीं हैं। वेदों में से इन नामों को लेकर अपना नाम रख सकते हैं और रख लेते हैं। क्योंकि सृष्टि के आदि में वेदों को छोड़ कर और नाम थे ही नहीं-अतः वेद पढ़ कर ही लोगों ने नाम रक्खे–और अब तक परम्परा से चले आते हैं। कुछ अदूरदर्शी लोगों ने इन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानकर वेद में इतिहास सिद्ध करने की कोशिश की है। सो अशुद्ध है। अपितु वेद से ये नाम आकर इतिहास बना है। इतिहास बन कर 'वेद" नहीं बना।

वेद के नामः—कामन नाउन हैं (समष्टि वाचक)
लौकिक नामः—प्रॉपर नाउन हैं (व्यक्ति वाचक)

अतः लोक वेद में पर्य्याप्त भेद हो जाता है। इसे ही लक्ष में रखते हुये "वेद" पढ़ना चाहिये।

"सप्त स्वराः"

वेद ने *सात स्वर* बताये हैं। *आठ नौ* कोई नहीं बता सका। जो वेद को नहीं मानते- वे भी सात ही "स्वर" मानते और गाते बजाते हैं। न किसी ने कम ही किये–न अधिक।

नच करो कि "हारमोनियम" के एक सप्तक में *१२* स्वर होते हैं। सो ठीक नहीं–क्योंकि नीचे वाले समतल परदे ही "*सप्तक*" कहलाते हैं–ऊपर वाले "*सात*" स्वर नहीं पूरे कर सकते–उन्हें नीचे वालों की सहायता लेनी पड़ेगी। नीचे वाले ऊपर की विना सहायता के "*सातों*"

स्वर पूरा करते हैं। असल में भेद यह है कि नीचे के "सा" का ऊपर वाला "परदा" तीव्र है–और "रे" का "मन्द्र = कोमल" है–ऐसे ही पाँचो सात में "लय" हो जाते हैं। तो सात ही शेष रहते हैं। वेद मन्त्रों पर ऋषि-देवता–छन्द और स्वर लिखे हैं–नारदीय शिक्षाः—आदि ग्रन्थों से इसका ज्ञान-विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।।

अन्नों के नामः—

व्रीहयश्च मे, यवाश्च मे, माषाश्च मे, तिलाश्च मे, मुद्गाश्च मे, खल्वाश्च मे, प्रियंगवश्च मे, ऽणवश्च मे, श्यामाकाश्च मे, मसूराश्च मे, गोधूमाश्च मे, नीवाराश्च मे, यज्ञेनकल्पताम् ।।

यजुर्वेद १८-१२,

इस वेद मन्त्र में अनेक अन्नों के नाम हैं।

धातुओं के नामः—

अस्मा च मे, मृत्तिका च मे पर्वताश्च मे, गिरयश्च मे, सिकताश्च मे, वनस्पतयश्च मे, हिरण्यश्च मे, अयश्च मे, श्यामश्च मे, लोहश्च मे, सीसश्च मे, त्रपुच मे, यज्ञेन कल्पताम् ।।

यजुर्वेद १८-१३

मनुजी कहते हैंः—

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्यः एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।

मनु०

नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम् ।
वेद शब्देभ्यः एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्यै वैभ्यो ददात्यजः ॥

शांकरभाष्ये

प्रलय के अन्त में और सृष्टि के आदि में वेद के शब्दो द्वारा ही "ऋषियों" के नामकरण हुये और जो मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुये–उनके नाम भी "वेद" से रक्खे गये ।

—:महाभारतः—

शंकराचार्य जी ने अपने वेदान्त दर्शन के भाष्य में महाभारत १७ । ७३३ । २८, का पता देकर लिखा है:—"**अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा**" ॥ स्वयंभू परमात्मा ने आदि अन्त से रहित नित्यस्वरूपा वाणी (वेद) को प्रकाशित किया ।

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्या ।

इस यजुर्वेदीय–अ० ३१ मंत्र २२ में "लक्ष्मी" शब्द आया है–तो यह क्या कोई सचमुच "*लक्ष्मी*" नाम की स्त्री है ? इसका इतिहास वेद में लिखा है ? नितान्त असत्य है ।

—:अर्थ दयानन्दर्षिः—

(श्रीश्चते) हे परमेश्वर ! ते = तव, श्रीः = सर्वा शोभा (लक्ष्मीश्चते) शुभलक्षणवती ।

धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्निवत् सेवमानेस्तः ॥

अर्थः—हे परमेश्वर ! जो आप की *अत्यन्त शोभारूप "श्री"*—और जो अत्यन्त शुभ लक्षणयुक्त *"लक्ष्मी"* है-वे दोनों *"पत्नी"* के समान हैं। अर्थात् जैसे पत्नी पति की सेवा करती है—उसी प्रकार आपकी सेवा आप ही को प्राप्त होती है। क्योंकि आपने ही सब जगत् को *शोभा* और *शुभ लक्षणों* से युक्त कर रक्खा है।

परन्तु यह सब शोभा और सत्य भाषणादि धर्मलक्षणों से लाभ, ये दोनों आप की ही सेवा के लिये हैं।

सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होनेसे—उनके विषय में यह *"पत्नी"* शब्द *"रूपकालंकार* से वर्णन किया गया है।"

—ःअत्र प्रमाणानिः—

श्रीर्हि पशवः। शतपथ—का० १ अ० ८॥

श्रीर्वै सोमः। शत० का० ४ अ० १॥

श्रीर्वै राष्ट्रं, श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः। शत० १३-१॥

निरुक्त-४-१०

लक्ष्मीः = लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यमानाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लज्जतेर्वा, स्यादश्लाघाकर्मणः। शिप्रे-इत्युपरिष्टाद् व्याचिख्यास्यामः, अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थ संगतिरस्तीति बोध्यम्॥

अर्थ :—इसमें श्री और लक्ष्मी के प्रमाण—शतपथ ब्राह्मण तथा निरुक्त में से दिये गये हैं।

(क) इससे अनेक पदार्थों का लाभ होता है।

(ख) इससे पुरुष लक्षित होता है। अर्थात् लक्ष्मी के कारण मनुष्य अनेकों में विशिष्ट माना जाता है।

(ग) उस लक्ष्मी को सभी चाहते हैं।

(घ) लक्ष्मी को सभी जन आलिङ्गन करना चाहते हैं। अर्थात् प्राप्त करना चाहते हैं।

(ङ) श्लाघार्थक "लस्ज" धातु से भी "लक्ष्मी" शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इस प्रकार "श्री" और "लक्ष्मी" की अर्थ संगति होती है।

नोट :—निरुक्त १२-४-में पत्नी शब्द से "सहचारिणी" शक्ति का ग्रहण करते हैं। "आग्नायी" शब्द का अर्थ अग्नि की "पत्नी" अर्थात् अग्नि की सहचारिणी शक्ति। "तेजस्विता" आदि करके—इसी अर्थ को पुष्ट किया है। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने—ऋग्वेद १।२२।१२ के भाष्य में "इन्द्राणी"=सूर्य या वायु की शक्ति। "वरुणानी"=जल की शक्ति। "अग्नायी"=अग्नि की शक्ति॥ अतः इन प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि वेद में इतिहास नहीं है। केवल "अलंकार" आदि न समझने से लोग ईश्वर की दो "पत्नी" मानते हैं। यह नितान्त भ्रम और अविद्या है। इसलिये पतञ्जलि मुनि की आज्ञा है आदेश है :—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदो ध्येयोज्ञे यश्चेति"

ब्राह्मण का बिना किसी लोभ लालच के धर्म है कि षडङ्ग वेदाध्ययन करे। स्वामी दयानन्द जी महाराज सत्यार्थ प्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखते हैं :—

मनुष्यैर्वेदार्थ विज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायी महाभाष्याध्ययनम् । ततो निघण्टु निरुक्त छन्दो ज्योतिषाणां वेदाङ्गानाम् । ततो मीमांसा वैशेषिक न्याय योग सांख्य वेदान्तानाम्–वेदोपाङ्गानां षण्णों शास्त्राणाम् । तत एतरेय शतपथ सामगोपथ ब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थं पठनं कर्त्तव्यम् ॥

अर्थात् :—६ अंग और ६ उपांगों को पढ़ कर वेद पढ़ो–इससे सब भ्रम मिट सकते हैं ॥

—: वेद की वेदता: —

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायोन विद्यते ।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

मनुः ।

जो प्रत्यक्ष और जो अनुमान से भी उपाय प्राप्त नहीं होता–या नहीं जाना जाता, वह वेद से प्राप्त होता है–या जाना जाता है ॥ इसीलिये "वेद" की वेदता है । यह मनु की सम्मति इस बात को सिद्ध करती है कि लोक से वेद उत्कृष्ट है । लोक में इतिहास होता है—अतः वह वेद से निकृष्ट है ।

कुतः ? यतो हि मनुष्याः सत्यानृते मिथुनी कृत्यप्रवर्त्तन्ते–आचरन्ति ब्रुवन्ति च । नहि कश्चिद्तथ्य सत्यं चैथ्यं गृहीत्वा व्याप्रियते । तथैव च ऐतिहासिकोऽपि, लेलिख्यते ॥

—: "पुराणं यजुसासह" :—

अर्थात् वेद का वचन है कि इसमें "पुराण" शब्द "इतिहास" वाचक है । नहीं ऐसा नहीं । यदि वेद स्वयं ही इतिहास होता तो

इतिहास वाचक शब्द "पुराण" न आता–यहाँ पृथक शब्द इस बात का द्योतक है कि वेद में इतिहास नहीं–अपितु इतिहास की "विद्या" है।

"शङ्का"

गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के अनित्य नाम वेदों में पाये जाते हैं। इससे सम्यक सिद्ध है कि वेद "भूगोल" की पुस्तक है। निरुक्त में स्पष्ट शब्दों में "इतिहास" वर्णन किया गया है।

यथा—

पाशा अस्यां विपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।
तस्माद्विपाडुच्यते। पूर्व मासो द्रुरुञ्जिरा॥

अर्थः—पहिले ब्यास नदी का नाम "उरुञ्जिरा" था, जब "वशिष्ट" के बन्धन इससे टूटे तो उसका नाम "विपाश" हो गया। वेद इस "वसिष्ठ" की घटना के बाद बने।

—: "वेदमन्त्र" :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शतुद्री स्तोमं सचता परुष्णया।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥

ऋग्० १०। ७५। ५

इस वेद मन्त्र में १० नाम नदियों के आते हैं। यथा:–गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शतुद्री, परुष्णी, आसिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, आर्जीकीया, सुषोमा—इन नदियों के अनित्य नामों से वेद में अनित्य इतिहास सिद्ध होता है।

—: "समाधि" :—

ये वेद मन्त्र में आये हुये नाम किसी नदी विशेष के नहीं हैं–अपितु *शरीरस्थ १० नाड़ियों* के हैं। *अधस्तात् प्रमाणानि संगृह्यन्तेः*—

नाभिस्था नग कन्दोर्ध्वमंकुरादेव निर्गताः ।
द्विसप्तति सहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः ॥
तासांमध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्र उत्तमाः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।

७२ *हजार नाड़ियाँ* नाभिकन्द से निकली हैं । १० उनमें से श्रेष्ठ हैं । और उन १० में से ३ श्रेष्ठ हैं । एक "*इडा*" दूसरी "*पिङ्गला*" तीसरी "*सुषुम्णा*" है ।

इडां गंगेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी ।
मध्ये सरस्वती विद्यात् प्र यागादि समस्तथा ॥

अर्थः—इडा नाम गंगा नाड़ी का है । पिङ्गला नाम यमुना का है । तथा मध्य नाड़ी सुषुम्णा का नाम सरस्वती है ॥

ऋग्वेद १।१३।९ में देखियेः—

इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयो भुवः ।

एतरेय ब्राह्मण-६-४ में देखियेः--

तिस्रो देवीर्य जति प्राणो वा अपानो वा व्यानश्चेति—इडा, सरस्वती, मही । प्राण अपान व्यान ये तीन नाड़ियां हैं ।

अथर्व वेदः—१-१७-७-२—में देखियेः—

तिष्ठादित् धमनिर्महि ॥ २ ॥
शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ॥ ३ ॥

यहां भी यही नाम नाड़ी का है ।

५

छान्दोग्यः ८-६-६ में देखिये:—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धा न मभिः निःसृतैकाः । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्व-मेति विश्वङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

अर्थः—१०१ नाड़ियां हृदय से निकलती हैं। उनमें से एक नाड़ी "*मूर्धा*"की ओर जाती है। जो उसके द्वारा अपने प्राणों को छोड़ता है वह "*मोक्ष*" को प्राप्त करता है।

ऋषि दयानन्दजी महाराज ऋग्वेदादि भा. भू. में लिखते हैं:-

इडा पिंगला सुषुम्णा कूर्म्म नाड्यादीनां गंगादि संज्ञास्तीति । तासां योग समाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्ति प्रदंच भवत्येव । तासां इडादीनां धारणा सिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरी करणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात् । एतन्मन्त्र-प्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात् ॥

अर्थः—इडा, पिंगला, सुषुम्णा, कूर्म आदि नाड़ियों की-गंगा, यमुना, सरस्वती आदि संज्ञा है (अर्थात् ये नाड़ियों के नाम हैं) वे योग समाधि में परमात्मा की प्राप्ति में सहायक होती है। उसका ध्यान दुःखनाशक मुक्ति साधक है। इन इडादि नाडियों की सिद्धि द्वारा चित्त की स्थिरता होती है (*समाधि सिद्धि-ईश्वर दर्शन*)।

निरुक्तः—का भी यही आशा है-कि "*विशिष्ठ*" नाम योगी का है। जब तक योगी अभ्यास नहीं करता तब तक इड़ादि नाड़ियें "*उरुच्चिरा*"

=अनेक प्रकार से जीवात्मा को *जीर्ण शीर्ण* करती रहती हैं। किन्तु जब वह अभ्यास के द्वारा नाड़ियों को वश में कर लेता है—तब वे उसके लिये "*विपाशा*"=बन्धन के काटने वाली हो जाती हैं।

"कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो अजायत"

यदि इसका "इतिहास" परक अर्थ किया जाये--तो यह होगा कि "*अर्जुन द्रौपदी* का *पुत्र* था"। जो नितान्त असम्भव है। परन्तु वैदिक पद्धति द्वारा इसका अर्थ "*काली रात्रि का अर्जुन=श्वेत* पुत्र है। अर्थात् दिन रात्रि का पुत्र है। इस रीति से "*कृष्ण*" शब्द वेद में व्यक्तिवाचक (प्रापर नाउन) नहीं हो सकता।

सायणाचार्यः—

"रामं कृष्णं शार्वरं तमोऽभिभूय तिष्ठति"

राम काला रात्रि का अन्धकार है। अतः वेद में आचार्य की सम्मति है कि *राम* कृष्ण *काले* को कहते हैं। मालूम होता है कि काला होने से ही राम कृष्ण नाम पड़ा। या रक्खा गया॥ इससे सिद्ध हुआ कि वेद से लोक में जाता है। लोक से वेद में नहीं आता।

मीमांसाः—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ १।१।५ ॥

शब्द का अर्थ के साथ (*औत्पत्तिकः*) स्वाभाविक सम्बन्ध है। अर्थात् नित्य सम्बन्ध है। अतः (*तस्य*) पूर्वोक्त धर्म (*ज्ञानम्*)

यथार्थ ज्ञान का साधन है। क्योंकि ईश्वर की ओर से उसका "*उपदेश*" हुआ है (च) और (*अनुपलब्धे, अर्थे*) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो अर्थ उपलब्ध नहीं होता—उसमें (*अव्यतिरेकः*) उसका व्यतिरेक =व्यभिचार नहीं दीखता (*वादरायणस्य*) वादरायणाचार्य के मत में (तत्) वह वाक्य (*अनपेक्षत्वात्*) अपने प्रामाण्य=अर्थात् अपने अर्थ की सत्यता के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से (*प्रमाणम्*) वेद स्वतः प्रमाण है। सारांश यह हुआ—कि वेद ईश्वर से उपदिष्ट है—अतः वह स्वतः प्रमाण है॥ उसमें व्यक्तिवाचक संज्ञायें (*प्रापर नाउन*) नहीं हैं। अपितु सामान्य नाम (*कॉमन नाउन*) है॥ वेद से संसार के नित्य नियमों (इटर्नल लाज़) का वर्णन होता है। जिससे सांसारिक पुरुष अपने-अपने नाम रखना और काम करना सीख जायें। तथा सृष्टि के ज्ञान विज्ञान कर्म उपासना को जानकर-ऐहिक तथा पारमार्थिक सुखों की प्राप्ति कर सकें। अर्थात् पृथिवी से लेकर ईश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों का साक्षात् करके "*मोक्ष*" प्राप्त कर लें। और वेद पढ़कर सृष्टि क्रम में वर्णित—

"सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। तथा मनुः—

"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयं भुवा॥ १-२५॥"

इन श्रुति स्मृति प्रमाणों से नित्य इतिहास की विद्या सीखकर-अपने काल के बन्धन में आने वाले अनित्य इतिहास का निर्माण कर लें। वेद में मनुष्यों के नदियों के तथा देश विदेशों के अनित्य इतिहासों की कल्पना करना मन से "*ख पुष्पवत*" सदा के लिये निकाल दें॥

इस संक्षिप्त लेख में प्रयत्न किया गया है कि वेद में लौकिक=अनित्य इतिहास नहीं है। वेद सब सत्य विधायों की पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है॥

यह विषय अति गहन है। बड़े-बड़े विद्वानों ने इस विषय पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं—और लिखते रहना चाहिये। जहाँ न समझ में आये—*ऋषिदयानन्दजी* महाराज के बनाये-*ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका* तथा वेद *भाष्य* को पढ़ना चाहिये—तृतीय नेत्र (*ज्ञान* चक्षुः) खुल जायेगा। लिखने वाले का भी कल्याण होगा—और पढ़ने वाला भी भवसागर से "तर" जायेगा।



॥ ओ३म् ॥

"यज्ञ"

१—यज् = देवपूजा, संगतिकरण, दानेषु ।

१. यज-धातु से *"यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो"* नङ् ३। ३ । ९० पाणिनी-से नङ्—न को ञ् पञ्चम अक्षर यज् + ञ् = यज्ञ शब्द बनता है । इसके तीन अर्थ हैं ।

१—देवपूजा = देवताओं का पूजा = सत्कार ।

देवता दो प्रकार के होते हैं—एक जड़ दूसरे चैतन्य । *"विद्वाँसोहि देवाः"* शतपथ ३-७ अर्थात् विद्वान् लोग देव कहलाते हैं । ये ही चैतन्य देव हैं ।

**"देवो-दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा,
द्युस्थानो भवतीति वा" ।**

निरुक्त अ० ७ खं० १५ ।

दान से दीपन से और द्योतन = दर्शाने से देव कहलाता है । तथा द्युलोक में रहता है । "दिवितिष्ठतीति देवः" सूर्य नक्षत्रादि द्युस्थानी हैं । ये सब जड़ हैं—मोक्षस्थ जीव भी द्युस्थानी है । ये सब चैतन्य हैं । यजुः १४-२० में देवताओं का वर्णन है :—

अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवता–इन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ २० ॥

सबसे मोटा अर्थ है—जो "दे" सो देवता है, और जो "ले" सो लेवता है। यह लक्षण जड़ और चैतन्य दोनों में घटता है।

२. यूं तो "यज्ञ" शब्द का बड़ा विस्तृत अर्थ है। वेदादि सच्छास्त्रों में इसका सविस्तर वर्णन है। गीता में योगीराज कृष्णचन्द्रजी ने पूरा एक यज्ञ का विस्तृत प्रकरण ही लिख दिया है। १०८ स्वा० दयानन्द जी सरस्वतीः "आर्योद्देश्य रत्नमाला" में लिखते हैं:—"जो अग्निहोत्र से लेके "*अश्वमेध पर्यन्त वा जो शिल्प व्यवहार और जो पदार्थ विज्ञान है, जो कि जगत के उपकार के लिये किया जाता है उसको "यज्ञ" कहते हैं।*

३. यहाँ केवल 'देवयज्ञ" पर विचार करना है। इसके ३ नाम और भी हैं :—"अग्निहोत्र, होम तथा हवन"।

"अग्नये परमेश्वराय, जलवायु शुद्धिकरणाय च होत्रं, हवनं, दानं, यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्नि होत्रम्"।

(*दयानन्दर्षि*) जिसमें वेदमन्त्रों द्वारा ईश्वराराधना तथा जलवायु की शुद्धि हो उसे "अग्निहोत्र" कहते हैं।

४. बालक जब ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके "यज्ञोपवीत" पहनकर "द्विज" बनता है, तो यज्ञोपवीत में पहिला, सूत्र "देवऋण" का होता

है, द्वितीय सूत्र "ऋषिऋण" का होता है, और तृतीय सूत्र "पितृ-ऋण" का होता है। देवऋण यज्ञ=अग्निहोत्र से उतरता है।

५. ऋण=कर्ज़ा, जो कि हमने देवताओं से लिया है, देवता-जो दे जिसमें दिव्य शक्तियाँ हों। "*अग्निर्देवता वातोदेवता०*" ऊपर मन्त्र में गिनाये हैं, ये सब हमें जीवन प्रदान करते हैं यदि अग्नि न हो तो हम ठण्डे हो जायें—जीवन समाप्त। यदि वायु न हो तो हम १ मिनट भी जी नहीं सकते। जल देवता है, पृथिवी देवता है अन्न देवता है इत्यादि ये सब न रहने पर जीवन नहीं रह सकता। हम इन्हें ग्रहण करते हैं और पुनः त्याग देते हैं, ये कर्म अत्यावश्यक हैं इनमें से एक भी छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु यह भी निश्चय है कि त्यागते हैं अति मलिन और गंदा वदबूदार करके-अतः हमारा "धर्म" ड्युटि=फ़र्ज़ हो जाता है कि हम उसे पुनः शुद्ध कर दें—और वह पहिले जैसा हो जाये। इसका उपाय वेद ने बताया :—अथर्व १९-५५-३।

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः,
प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसु दान एधि,
वयं त्वेन्धानाः तन्वं पुषेम ॥

अर्थ :—गृह रक्षक "अग्निः" प्रतिदिन प्रातः साय आरोग्यदाता होवे, निवास स्थान की शुद्धि करनेवाला होवे, हे अग्निः! तू प्रत्येक स्थानों में उपस्थित है तुझे प्रदीप्त करते हुये हम शरीर को पुष्ट करें॥

उन्यच्च :—

अग्नि होत्रं सायं प्रातः गृहाणां निष्कृतिः।
स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां परायणम्।
स्वर्गस्य लोकस्य ज्योतिः॥

तैत्तिरीय आ० १०-६३-१।

अर्थः—सायं प्रातः "अग्निहोत्र" घरों की शुद्धि करने वाला है। श्रद्धापूर्वक संपूर्ण किया हुआ "होम" यज्ञों और क्रतुओं की पराकाष्ठा है। यह स्वर्गलोक की ज्योति है।

६. स्वर्गलोकः—स्वर्ग कहते हैं सुख और सुख की सामग्री को, और जहाँ यह दिखाई दे उसे "स्वर्ग लोक" कहते हैं। लोकृ-दर्शने, धातु से लोकना = दिखलाई पड़ना-अर्थात् जो दिखाई दे। सुख के रहने के स्थान "देवता" है इन्हीं में सुख रहता है-यदि ये अनुकूल हों तो सुख है-प्रतिकूल हों तो दुःख है। हमने जब अन्न, जल, वायु का ग्रहण किया तो शुद्ध था अर्थात् अनुकूल था-जब त्यागा तो गन्दा हो गया, प्रतिकूल हो गया। इनको पुनः पूर्ववत् कर देना चाहिये। चार प्रकार के पदार्थ हैं जिनको इन तक पहुँचा देने से पूर्ववत् हो जाते हैं।

७. होम द्रव्याणिः—(प्रथम-सुगन्धित) कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची बड़ी, जायफल, जावित्री, नागरमोथा, बालछड़, खस, लौंग, तुमुल, तज, तेजपात, तालीस पत्र, गुग्गुल, सुगन्धबाला, सुगन्ध कोकिला, कुलञ्जन, मुलहठी, झाऊबेर।

(*द्वितीय-पुष्टिकारक*)—घृत, दूध, फल, कन्द, खीर, अन्न, चावल, तिल, जौ, उर्द (उड़द), हलवा, लड्डू।

(*तृतीय-मिष्ट*)—शक्कर, मधु, छुहारे, दाख, पिस्ता, बादाम, किशमिश, गरी गोला, चिरौंजी, मुनक्का।

(*चौथे रोगनाशक*)—सोमलता (गिलोय), ब्राह्मी, चिरायता, मुलहठी, हर्रें बड़ी गुठली सहित, कपूर कचरी, शतावर, अड़ूसा, इन्द्रायण की जड़, देवदारु, पुनर्नवा, क्षीरका कोली, शालपर्णी, मकोय. आँवला, खूबकलां, गोखरू, रास्ना, गुलाब के फूल, जीवन्ती, पाण्डरी, वाय वड़िंग (भाबी रंग)।

८. क—किसी विश्वासपात्र "अत्तार" के यहाँ से समस्त सामग्री लेनी चाहिये।

ख— हर चीज़ की पुड़िया पृथक् पृथक् हो।

ग— लेते समय या तो कोई जानकार स्वयं खरीदे या प्रत्येक पुड़िया खोलकर "वैद्य" का सहारा ले।

घ—यदि ताजी औषधियें नहीं होंगी—गली सड़ी, पुरानी घुनी होंगी—तो कोई विशेष लाभ नहीं होगा। पुरानी औषध "वीर्यहीन" हो जाती हैं। इन औषधियों में मैंने "क्षय" रोग की औषधि भी मिला दी है। जो कि मेडिकल औफिसर टी० वी० सेनेटोरियम, जबलपुर से प्राप्त है। अतः बड़ी सावधानी से खरीदें, तथा नीचे लिखे अनुसार काम में लावें, पहिला स्टेज वाला तो अच्छा होता है कुछ दिनों में। आगे वाले में देर लगती है। डाक्टर फाक के लेखानुसार "*कफमिश्रित*" धूल से जो जर्म्स भीतर जाकर घाव पैदा करते हैं—ऐसे ताजे क्षय रोगी नित्य प्रति हवन करने से रोग मुक्त हो जाते हैं—आगे पुनः यह रोग होने नहीं पाता। नित्यं प्रति इस सामग्री से "हवन" करने वाला अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त रहता है।

दो प्रकार की यक्ष्मा का अथर्ववेद ३-११-१ में वर्णन है :—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय
कमज्ञात यक्ष्मा दुतराज यक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येत देनं तस्या
इन्द्राग्नि प्रमुमुक्तमेनम्॥

अर्थः—हे मनुष्य! त्वा = तुझको। कं जीवनाय=सुखपूर्वक जीने के लिये। हविषा=हविः=हवन सामग्री के द्वारा, अर्थात् "*अग्निहोत्र*"

के द्वारा। अज्ञात यक्ष्मात्=अज्ञात यक्ष्मा से (पूर्वरूप)। उत=और राजयक्ष्मात्=राजयक्ष्मा से (प्रकट रूप)। मुञ्चामि=छुड़ाता हूँ। यदि एनम्=यदि इसको। एतत्=प्रसिद्ध, ग्राहिः = न छोड़ने वाले गठियादि रोगों ने। जग्राह=पकड़ रक्खा है। तस्याः–उस ग्राहि से। इन्द्राग्नि= विद्युत और अग्नि, अथवा वायु और सूर्य। प्रमुमुक्तम् = छुड़ावें।

गोपथ ब्राह्मण :—

भैषज्य यज्ञा वा एते। तस्मादृतु सन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतु सन्धिषु व्याधिर्जायते॥

अर्थ :—ये औषधियों के महामख=यज्ञ हैं। इसलिये ऋतु सन्धियों में ये यज्ञ किये जाते हैं, क्योंकि ऋतु सन्धियों में व्याधियाँ होती हैं।

९. सामग्री बनाने की विधि :—केसर कस्तूरी–अलग रख ले, ये दोनों नित्यं प्रति होम करने वाले घृत में एक रत्ती डालकर करें फल भी ऋतु अनुसार जो मिले डालें—ताजे खरीदकर। हलवा कभी खीर ये रोज़ बनाने की चीज़ है। शेष सब औषधि को कूटकर मोटी चलनी में चाल लें। यदि दो सेर सामग्री हो तो १ पाव पक्की शक्कर मिला दीजिये—घृत गाय का इतना छोड़ें कि लड्डू बन जाये। लड्डू बनाने नहीं। पुनः उसे एक ढकने वाले डब्बे में बन्द करके सुरक्षित रख लें–उसकी सुगन्ध न उड़ने पावे। सब औषध समान भाग हों। *जावित्री जायफ़ल–सेर पीछे १-१ तोला हो।*

जो औषध गीली हों उन्हे छाया में सुखाये—जैसे गिलोय (गुरुच) अडूसा मकोय ये सब जंगल से ले आना चाहिये। सूखने पर कूटकर मिला लें। मुनक्का, किसमिस अलग से मिलायें यह कूटा छाना नहीं जा सकता। शक्कर मिलाते समय शहद मिला देंगे। "कपूर" अलग

रख ले नित्य प्रति प्रातः सायं-हवन की आग इसी से लकड़यों में रखकर जलावें, अग्नि होत्र करने की रीति किसी आर्य पण्डित से सीखनी चाहिये। उससे बहुत कम समय लगेगा और फल अधिक होगा। चम्मच से घृत जो अग्नि में "स्वाहा" शब्द के साथ छोड़ा जाता है—उसकी एक बूँद लौटते हुये—कटोरी के पानी में जो पहिले से भरकर रखा है—उसमें छोड़ दे, समाप्ति तक उसमें घी जमा हो जायेगा। हाथ में लगाकर मुखादि अंगों में "वैदिक क्रीम" समझकर लगावें। कभी मोहन भोग कभी खीर आदि जो स्थाली पाक हो उसमें भी वह घृत मिला दें और घर में बाटें स्वयं भी खाये।

१०. **क्या** घृतादि पदार्थ अग्नि में जलने से नष्ट नहीं हो जाते ? नहीं, अग्नि में डाली हुई वस्तु नष्ट नहीं होती-अपितु सूक्ष्म होकर "वायु" में मिल जाती है।

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ॥
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

सामवेद अ० १, दशतिः १,

अर्थः—*विश्ववेदसम्*=सबको जानने वाले। *होतारम्*=देवों को बुलाने वाले। *अस्य यज्ञस्य*=इस यज्ञ के। *सुक्रतुम्*=सुधारने वाले। *अग्निदूतम्*=अग्निदूत को। *वृणीमेह*=हम, वर्ण=स्वीकार करते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे "दूत" द्वारा सत्कार करने योग्यों को बुलाते हैं; वैसे ही अग्नि द्वारा "*वायु*" आदि देवताओं को बुलाया जाता है।

जैसे सरकार ने "कमिश्नर कलक्टर" को बुलाने के लिये दूत (चपरासी) दे रक्खा है—ऐसे ही परमात्मा ने हमको भी देवताओं को बुलाकर खिलाने पिलाने के लिए "*दूत-अग्नि*' दे रक्खा है।

जैसे "कमिश्नर कलक्टर" घण्टी बजाकर अपने दूत को बुलाता है ऐसे हीहम भी "हवनकुण्ड" में लकड़ियें रखकर "कपूर" द्वारा उनमें "अग्नि" जला देते हैं—फ़ौरन सब देवताओं में हलचल पैदा हो जाती है। "त्रयस्त्रिशंतदेवाः" तेतीस (३३) देवता हैं। जब हम "*ओं प्राणाय स्वाहा*" मन्त्र बोल कर आहुति देते हैं तो "अग्नि" के ऊपर छाये हुये *वायु* आदि देवों को अग्नि आहुति (शाकल्प) देकर-अपनी उष्णता द्वारा इतना हलका कर देता है कि वे सब ऊपर चले जाते हैं—और "*अग्नि*" के ऊपर का भाग खाली हो जाता है। और अड़ोस-पड़ोस का वायु देवों सहित पुनः रिक्त स्थान को भर देता है। इस प्रकार हम बराबर दूसरी-तीसरी-चौथी आहुति डालते रहते हैं—और वे अग्नि में डाला हुआ सब सामान ऊपर पहुँचता रहता है। आगे नभ प्रदेश में उसे जल-जिसे सूर्य की रश्मिये पृथिवी से सूक्ष्म करके ऊपर ले गई हैं—उनमें जा मिलता है—और जल वृष्टि द्वारा पुनः पृथिवी पर आ जाता है। उससे अन्न और औषधियें उत्पन्न होती हैं। जिनमें रोगनाशक—पुष्टि कारक सुगन्धित और मिष्ट पदार्थ मिले हुवे हैं। अर्थात् किशमिश, छुहारा, गरी, बादाम, शुद्ध गोघृत, तुमुल तज-तेज पात शकर आदि मिष्ट पदार्थ मिले हुये हैं॥ ऐसे शुद्ध अन्न को खाकर ही ऋषि मुनियों ने-दर्शन शास्त्र बनाये—हम अशुद्ध अन्न खाकर तथा अभक्ष्य पदार्थ खा कर उन्हें पढ़ भी नहीं सकते।

अग्नि दूत है—उसमें डाला हुआ पदार्थ नष्ट नहीं होता, अपितु उसकी शक्ति कई गुणा बढ़ जाती है।

परीक्षण करने के पश्चात् केमिकल प्रापरटीज़ की सम्मति इस विषय में यह है कि :—

जायफल-जावित्री बड़ी इलायची-सूखा चन्दन इत्यादि अग्नि में जलाने से उपयोगी भाग ज्यों का त्यों रहता है। सूक्ष्म हो जाता

है। पहिले इनसे सुगन्धित तेल-गैस बन कर निकलते हैं। हवन गैस में ये चीजे अपने असली रूप में मिलती हैं! अग्नि इन चीज़ों को "गैस" बना देता है। उड़ने वाले तेलों के परमाणु १। १०००० से १। १००००००००० सेंटीमीटर व्यास वाले देखे गये हैं। अतः हवन से इन चीज़ों के गुण बहुत बढ़ जाते हैं। और आसानी से कीटाणुओं का नाश करते हैं।

मद्रास के सेनेटरी कमिश्नर डाक्टर करनल किंग R. M. S. ने कोलिज के विद्यार्थियों को उपदेश दिया कि घी, चावल और केसर मिलाकर जलाने से रोग के कीटाणुओं का नाश होता है।

फ्रांस के विज्ञान वेत्ता प्रो० टिलवर्ट, साहब कहते हैं—कि जलती हुई खांड के धुयें में वायु शुद्ध करने की बड़ी शक्ति है। इससे "हैजा" तपेदिक (क्षय) चेचक इत्यादि का विष शीघ्र नष्ट हो जाता है॥

डाक्टर *टाटलिट साहब* ने मुनक्का-किशमिश इत्यादि सूखे फलों को जलाकर देखा है—और मालूम किया है कि इनके धुयें से "टाइफ़ाइड" ज्वर के कीटाणु केवल आध घण्टे में—और दूसरे रोगों के कीटाणु घण्टे दो घण्टे में समाप्त हो जाते हैं।

डाक्टर "*हेफ़किन*" साहब (फ्रांस के) जिन्होंने "चेचक" के टीका का आविष्कार किया कहते हैं कि "*घी*" जलाने से रोग कृमि मर जाते हैं।

११. यह सब विदेशी डाक्टर लोग—एक-एक का परीक्षण करके बताते हैं—और अनेक रोग अच्छे करते हैं हमारे *ऋषि मुनियों* ने सब का परीक्षण करके "सब सामग्री (शाकल्प) एक जगह इकट्ठी करके कूट छान दी है। जो रोग विशेष हुआ—उसके औषध विशेष डाल दिये।

१२. इससे यह भी सिद्ध होता है कि "वैदिक-वाङ्मय" के वेत्ता "*विज्ञान*" की अन्तिम सीमा तक पहुँचे हुये थे।

१३. हम लोगों ने जो "चक्कियें" चीजों को पीस कर बारीक करने के लिये बनाई है वे सब इस ईश्वर की बनाई हुई चक्की के सामने फ़ेल हैं। यह अग्नि रूपी सुन्दर चक्की वस्तुओं को सूक्ष्म करने का ईश्वर प्रदत्त साधन बड़ा विलक्षण "*वण्डर फुल*" है। घी-को तेल को पानी को हलवा पूरी, माल पूआ-लड्डू, चमचम, पन्तुआ आदि आदि तथा केला, सेव, अंगूर, खजूर, नाशपाती, अनार, किशमिश, छुहारा, गरी, बादाम, पिस्ता, अखरोट, समस्त लाभ दायक पदार्थों को इतना सूक्ष्म कर देता है—कि मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, गुल्म, लता तो क्या दोस्त दुश्मन सब खायें और मोटायें। यहाँ तक कि जड़ देवता अग्नि, वायु, पृथिवी, जल, चना, मटर, गेहूँ, जौ, जवार, बाजरा सब खाये—स्वयं शुद्ध हो रोग रहित हो (अर्थात् रोग कीटाणु रहित हो) और दूसरों को रोग मुक्त करे। यह है "वैदिक दूत" *वृणीमहे*=वर्ण करते हैं स्वीकार करते हैं। अतः यह "अग्निः" किसी वस्तु को नष्ट नहीं करता—अपितु दी हुई वस्तु को उसके पूर्णगुणों के साथ उसे विकसित कर देता है। किसी सुगन्धिक वस्तु को डाल कर देखिये—तुरन्त आप की "नाक" उसकी सुगन्धि से भर जायेगी—चित्त प्रसन्न हो जायेगा। मिर्चा लालमिर्च अग्नि में डाल के देखिये—फ़ोरन छींके आने लगेंगी—इसकी खुशकी तीखा पन ने अपना प्रभाव *मस्तिष्क* पर डाला। इसी प्रकार से यदि सुगन्धित ओषधि तथा घृत-शकर अग्नि में डाल कर होम किया जायेगा—तो उसका सुन्दर प्रभाव क्यों नहीं पड़ेगा? अवश्य पड़ेगा।

१४. रोगों का रोकना तथा दूर करना, मनुष्य का परम कर्त्तव्य है और रोग-पानी, वायु और भोजन के द्वारा प्राणी में प्रवेश करते हैं। अग्नि होत्र द्वारा हम जिस प्रकार के मेघों का निर्माण करेंगे, उसी प्रकार का शुद्ध या अशुद्ध जल "*वृष्टि*" के द्वारा हमें प्राप्त होगा, अतः

मेघों का निर्माण या "वृष्टिकर्म" अग्नि के अधीन है। इसलिये अग्नि में होत्र = डाला हुआ पदार्थ मनु महाराज के कथनानुसार:—

"अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य मुपतिष्ठते।
आदित्याःज्ञायते वृष्टिः वृष्टेः रन्नं ततः प्रजा ॥

अर्थः—अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य रश्मियों में रहती हैं—वहाँ से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न होता है, अन्न से प्रजा।

ऋग्वेद ने वड़ा सुन्दर कहा है:—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥
१। १६४। ५१

अर्थः—एतत् समानं = उदकम् = यह वही समान उदक अर्थात् जल है। *अहोभिः*—*उदेति अव च*=समय से ऊपर जाता है और नीचे आता है। *परजन्याः भूमिं जिन्वन्ति*=मेघ जलों से भूमि को सींचते हैं। *अग्नयः दिवंजिन्वन्ति* = और अग्नियें अन्तरिक्ष को सींचती है।

कृष्णं नियानं हरयःसुपर्णी अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
ऋ० १। १६४। ४७

अर्थः—रसको हरने वाली सूर्य किरणें *अपः वसानाः*=जल को ओढ़ कर। *दिवं उत्पतन्ति*=उत्तरायण काल में अन्तरिक्ष में जाती हैं। *ते कृष्णं नियानम्*=और पुनः वे दक्षिणायन के समय। *ऋतस्य सदनात्*=अन्तरिक्ष से अर्थात् जल के स्थान से। *आववृत्रन्* = लौट आती हैं। *आत्-इत्-घृतेन पृथिवी व्युद्यते* = तब शुद्ध जल से पृथिवी भर जाती है।

सूर्य-विद्युत और अग्नि इन तीन से वृष्टि होती है और इन तीनों को "यज्ञ" द्वारा शुद्ध किया जाता है। जहाँ मनुष्यादि नीरोग, पुष्ट और बलिष्ट हो जाते हैं वहाँ औषधियें भी औषध खा कर वीर्यवती, गुणवती हो जाती हैं।

यजुर्वेद के पहिले मन्त्र में ईश्वर ने जीवों को उपदेश दिया है कि—

"श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु" —

सविता देव तुम्हें *श्रेष्ठतम*=सर्वोत्तम कर्म के लिये प्रेरणा करे। चार प्रकार के कर्म होते हैं-*अप्रशस्त*=चोरी आदि। *प्रशस्त*= परिवार का भरण पोषण। *श्रेष्ठ*=धर्मार्थ कूप तडागादि बनाना। *श्रेष्ठतम*=यज्ञ - "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। तस्मान्मनुष्येभ्यो यज्ञं प्राह, गो० उ० २- १३॥ यज्ञ ही सब कर्मों से श्रेष्ठ कर्म है। अतःसब के लिये "यज्ञ" करना कहा है, क्योंकि यज्ञसे वृष्टि, वृष्टि से शुद्ध अन्न की उत्पत्ति और रोगादि की निवृत्ति होती है।

सर्वेषां वै एष भूतानां, सर्वेषां देवानां आत्मा यत् यज्ञः।
तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजयापशुभिः ऋध्यते॥

शतपथ १४।३।२

अर्थ:—"वै" इति निश्चय करके यह यज्ञ सब प्राणियों का सब देवताओं का जीवन है। इसकी समृद्धि से यजमान और यजमान प्रजा और पशुओं से समृद्धि को प्राप्त होता है।

१५—जिस प्रकार पृथिवी में डाला बीज सहस्रगुण होकर हम को प्राप्त होता है। इसी प्रकार यज्ञ में डाले हुये पदार्थ हमें—सैकड़ों-सहस्रों धाराओं से शुद्ध समृद्ध पवित्र जीवन वाला बनाता है।

ओ३म्-वसोः पवित्रमसि शतधारं-
वसोः पवित्रमसि-सहस्रधारम्।

यजुर्वेद अ० १ मन्त्र ३।

६

तू सैकड़ों और सहस्र धाराओं से युक्त वसुओं की शुद्धता करने वाला है। १०-२३ गीता में देखें—"वसूनां पावकश्चास्मि' =मैं वसुओं को पवित्र करने द्वारा हूँ। "पावक" शब्द के अर्थ हैं अग्नि तथा पवित्र करना। अग्नि पक्षपात रहित पवित्र करता है—दोस्त-दुश्मन का फरक़ नहीं रखता—उसके लिये दोनों बराबर हैं। वसु आठ हैं, शतपथ ११।६।६।

अष्टौ वसवः—

अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एते ही दं सर्वं वासयन्ते ॥

ब्रह्माण्ड में पाये जाने वाले वसु—प्रत्येक "पिण्ड" में भी "अंशरूप" से रहते हैं। "यत्पिण्डे तत् ब्राह्माण्डे" यह प्रसिद्ध उक्ति है। अतः अग्नि, जल आदि ८ वसु जैसे ब्रह्माण्ड (संसार) में हैं। ऐसे ही पिण्ड अर्थात् शरीर में भी हैं। अतः 'यज्ञ" ही एक ऐसा साधन है जिससे दोनों की शुद्धि-वृद्धि सम्यक् प्रकार से हो सकती है "वसु" कहते हैं वसाने वाले को —ये हमें बसाते हैं, हम बसते हैं, रहते हैं।

१६—नौ हि एषा वा स्वर्ग्या यदग्नि होत्रम्।

शत० २।३।३

जो यह अग्निहोत्र है निश्चय करके स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली नौका है।

गीता ६-१४ :—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्न सम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्म समुद्भवः॥

६-१४॥

अन्न से सर्वप्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न मेघ से बनता है। मेघ यज्ञ से बनता है। यज्ञ कर्म से पैदा होता है।

ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्=यज्ञ करनेवाले स्वर्ग को जाते हैं।

यज्ञं जनयन्तु सूरयः=विद्वान् यज्ञ को फैलाते हैं।

ऋ० १०। ६६। २

भद्रो नो अग्निराहुतः=हवन किया हुआ अग्नि कल्याण कारक हो। यजुः १५-३८।

सखायः क्रतु मिच्छत=मित्रो! कर्म की वा यज्ञ की इच्छा करो।

ऋ० ८। ५९। १३।

अयज्ञियोहतवर्चो भवति=यज्ञहीन का तेज नष्ट हो जाता है।

अ० १२। २। ३७।

यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्=हमारा अन्न यज्ञीय और मीठा हो।

अ० ६। ११६। १।

यज्ञ मुखं वै अग्निहोत्रम्=सब यज्ञो का मुख निश्चय अग्निहोत्र है। तै० सं०।

१७. शंका :—जब सूर्य तमाम जलवायु को शुद्ध करता है तो हम लोग "हवन" का सिर दर्द क्यों खाहमखाह मोल लें?

उत्तर :—नेचर ने हमारे खाने के लिये बहुत चीजें कुदरती तौर पर पैदा की हैं—परन्तु तौ भी मनुष्य खेती करता है—फल-फूल लगाता है। बिना इसके आराम नहीं मिलता। कुदरती तौर पर बीमारियाँ आती हैं चली जाती हैं। परन्तु तिस पर भी बुद्धिमान लोग औषध का प्रबन्ध करते ही हैं। इसी प्रकार से हम जो हवा-पानी गन्दा करते हैं उन्हें जब तक "*अग्निहोत्र*" द्वारा विशेष रूप से शुद्ध नहीं करेंगे, तब तक पूर्ण सुख नहीं मिलेगा। अतः नेचर की सहायता करना हमारा धर्म है।

१८. शंका :—दूध-घी खाने से लाभ हो सकता है। पौष्टिक ओषधि खाकर हृष्ट पुष्ट मनुष्य बन सकता है—इतर-फुलेल से कमरा सुवासित किया जा सकता है। आग में जलाने से क्या लाभ है ?

उत्तर :—यह इतर आदि की सुगन्धि कमरे की गन्दी वायु को बाहिर नहीं निकाल सकती—न बाहिर से आने वाले वायु को शुद्ध करती है। अग्नि में हीट के कारण वायु को हलकी करके उड़ा देने की शक्ति है—और नई वायु पुनः शुद्धि के लिये आ जाती है। और इतर फुलेल जहाँ नहीं पहुँच सकता वहाँ भी हवन का पवित्र वायु पहुँचता है। ऐसी बातें जो ज्ञान-विज्ञान (साइंस) नहीं पढ़े वे अज्ञ पुरुष बोलते हैं। खाने से केवल खाने वाले को ही लाभ होगा, परन्तु जलाने से सैकड़ों मनुष्यों पशु-पक्षियों में फैल जायेगा। इसमें पर-उपकार बहुत है। खर्चा कम है।

१९. शंका :—इसमें (यज्ञमें) पैसा बहुत खर्चा होता है। सब चीज़ें महँगी है। पैसा कहाँ से आयेगा ?

समाधान :—यदि उन दुर्व्यसनों को छोड़ दिया जाये—जिनसे जलवायु दूषित होता है तथा स्वास्थ्य बिगड़ता है तो हवन करने के उपरान्त भी पैसा बच रहेगा। आजकल के भले मानुष २) रु० रोज से कम सिगरिट-पान, सुरती ज़र्दा आदि नहीं खाते—हवन केवल १) रु० रोज का कर सकते हैं। इनका स्वास्थ्य सुधरेगा-इनसे सम्बन्धित गाय-भैंस-बैल का स्वास्थ्य अच्छा होगा—नौकर-चाकर सुधर जायेंगे। ३६०) रु० सालाना बच रहेगा। इससे गरीब लड़कों को किताबें खरीद दें—वे पढ़ जायेंगे। आपको आशीर्वाद देंगे—देश सुधरेगा।

गरीब लोग बीड़ी-सिगरिट नशे पानी में बहुत पैसा बरबाद करते हैं। वे ॥) आठ आने रोज़ का हवन कर सकते हैं। दुर्व्यसनों का सारा पैसा बच रहेगा रोगरहित होने पर जो दवाई का खर्च होता था और स्वास्थ्य बिगड़कर शरीर की दुर्गति होती थी उन सब से बच

जायेंगे। ईश्वर आपको सुबुद्धि दे तो आप कल से ही "हवन" करना आरम्भ कर देंगे। सुख का सुख और बचत की बचत। इसी को कहते हैं :—"*आम के आम और गुठली के दाम*"।

"अत्र एका कथा वर्त्तते"

२०. राजा जनक की सभा लगी हुई थी—उस सभा में सम्राट ने याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न किया "वेत्थाग्नि होत्रं याज्ञवल्क्या३ इति ?, वेद, सम्राडिति, किमीति ? पयः एवेति,=भो याज्ञवल्क्य ! तुम जानते हो "अग्नि होत्र" का क्या स्वरूप है ? हे राजन् ! मैं जानता हूँ। क्या है ? पयः=अर्थात् दूध से "अग्निहोत्र" भलि-भाँति किया जा सकता है। "यत्पयः न स्यात्-केन जुहु या इति ?" = यदि दूध न हो तो किस वस्तु द्वारा "होम" करोगे ? व्रीहि यवाभ्याम् इति।=चावल और जौ से "*होम*" करेंगे। 'यत्-व्रीहियवौ न स्यातम्—केन जुहुया इति ?"=जब चावल और जौ न हों तो किस से हवन करे ? 'या अन्या ओषधय इति" = जो दूसरी औषधया हैं उनके द्वारा "हवन" करे। "पदन्या ओषधयो नस्युः केन जुहुया इति ?" = जब दूसरी औषधयाँ न हों तो किसके द्वारा हवन करोगे ? "या आरण्या ओषधय इति"। = जो अरण्य में अर्थात् जंगल में जड़ी बूटी हैं उनसे हवन करेंगे। "यदारण्या ओषधयो नस्युः केन जुहु या इति ?'=जब जंगली औषध न हों तो किसके द्वारा हवन करोगे ? "वानस्पत्येनेति"- सम्राट् ! तब मैं वनस्पतियों द्वारा हवन करूँगा। "यद्वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहु या इति ?"=जब वनस्पति नहीं होंगी तो किससे हवन करोगे ? "अद्भिरिति"=महाराज ! जलों द्वारा हवन करूँगा। "यदापो नस्युः केन जुहु या इति ?" = जब जल नहीं होंगे तो किससे होम करोगे ?

सहोवाच। नवाऽइह तर्हि किंचनासीद थैतदहूयतैव "सत्यं श्रद्धायामिति"।

वह निश्चय करके बोला—यहाँ जब कुछ भी न था तब भी "होम" किया ही गया था। कैसे ? "*श्रद्धा की आग में सत्य को डाला गया था। साश्रुः प्रसन्नः सम्राड़ुवाच :—*

"वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य ! धेनु शतं ददामीति"

हे याज्ञवल्क्य ! तुम अग्निहोत्र को जानते हो। मैं तुम्हें सौ गौ देता हूँ। नयनों से जल बहाता प्रसन्न बदन बोला॥

२१. प्रिय पाठकवृन्द ! कितना उत्तम संवाद है, धन-दौलत नहीं चाहिये। सत्य चाहिये—श्रद्धा, भक्ति प्रेम–संसार की भलाई का ध्यान परोपकार इतनी चीज़ें होने पर "*अग्निहोत्र*" छूट नहीं सकता। हवन नित्य प्रति करना चाहिये—प्रातःकाल का हवन दिनभर की सफाई रखता है और सायङ्काल का हवन रात्रि भर शुद्धता और पवित्रता रखता है।

२२. मिस्टनरोड कानपुर—के उत्सव पर शंका समाधान में एक प्रोफेसर महानुभाव ने प्रश्न किया था--कि अभी जो आप लोग "वृहद्-यज्ञ" करके आ रहे हैं। उस अग्नि जलाने से जो 'कार्बन डाइ-आक्साइड" उत्पन्न करके अपने तथा अड़ोस-पड़ोस वालों के स्वास्थ्य को खराब करते हैं।

समाधिः—मैं साइंस का मास्टर नहीं हूँ इसके विशेषज्ञ पं. तोताराम जी सामयिक प्रधान हैं वह आप को विशेषरूप से बतायेंगे। मैं इतना निवेदन करूँगा कि रसायन शास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि गन्ने की खांड, फलो की खांड तथा अंगूरी खाण्ड (ग्लूकोज़) इनको जलाने से नाना प्रकार के रोग वाले जर्म्स=कीटाणुओं को समाप्त करने की शक्ति वायु में उत्पन्न हो जाती है। मैंने कहा हम लोग उसमें अनेक प्रकार के रोग नाश करने वाली औषध डालते हैं। इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि लकड़ी जलाने से "फ़ार्मिक आलडी हाइड" नामी

"गैस" पैदा होती है जो रोग के कीटाणुओं को नष्ट करती है। जल के सौ परिमाणों में ४० परिमाण इस वायु के मिलाकर "फार्मेलिन" दवाई बना कर बाजार में बेची जाती है। जो "फीनाइल" की भाँति घर में छिड़क कर कीटाणु मारने के काम में लाई जाती है। भर-भर शीशियें बिकती हैं। हमारा हवन इससे लाख दरजा उत्कृष्ट और सुगन्धित —"फार्मेलिन" तो बदबू करता है।

रही आपकी "कार्बन-डाइ-आक्साइड" इसको आपने दम घुटने वाली बताया है—सो ठीक नहीं, क्योंकि इसे ही तो आप "लैमुनेट" "सोडा" के जल में घुला हुआ पीते हैं। प्यास शान्त होती है। भोजन पचता है। यद्यपि यह हमारे "फेफड़ों" पर सीधा सम्बन्ध नहीं रखता—पेट में सीधा जाता है। परन्तु "अग्नि" के ताप से वे ऊपर उठ जाता है। बहुत शक्तिहीन हो जाता है। और बहुत-सी शुद्ध वायुयें हमारे श्वास द्वारा हमारे भीतर जाती हैं—उनका असर अधिक होता है। और जो भारी होने के कारण नीचे रह जाता है। उसे जल, हरे पौधे (जो यज्ञ में रक्खे जाते हैं) सब खा जाते हैं। इससे ज्ञात हुआ कि "हवन" दोनों लाभ पहुँचाता है—हमको भी और वृक्षों को क्या अपितु समस्त हरियाली को। आप पड़ोसी को हानि समझे थे, यहाँ लाभ सिद्ध हो गया। इसपर पं० तोताराम जो प्रोफेसर डी. ए. वी. केलिज, कानपुर ने काफ़ी प्रकाश डाला—और वे प्रसन्न हो गये।

२३. इन्जैक्शन—खाई हुई दवाई पेट में जाती है। उसका असर रक्त में बहुत देर के बाद होता है परन्तु खून में सीधा पहुँचा दिया जाये-तो शीघ्र ही औषध लाभ पहुँचाती है। इसीसे अब औषधि "इन्जैक्शन" द्वारा खून में सीधी पहुँचाई जाती है। जिससे रोगी शीघ्र अच्छा होता है। परन्तु दीर्घ रोगी का शरीर छिदते-छिदते चलनी हो जाता है कभी-कभी उनके घाव (व्रण) हो जाते हैं—यह एक दूसरा रोग उत्पन्न हो गया—यदि उसकी मृत्यु हो गई-तो सूयों के घावों (व्रणों) से तड़प कर अति

दुःखी हो कर मरता है। उसके सारे शरीर की दुर्दशा हो जाती है। यदि ग़लत कोई दवाई "इन्जैक्ट" हो गई तो और आफ़त है। बिना मौत के मौत हाज़िर है।

हवन—हवन में यह बुराई नहीं–सब दवायें कूट छान कर रक्खी हैं। उन्हें प्रातः सायं आवश्यकतानुसार अग्नि में होम करना है—वह "*गैस*" बन सूक्ष्म होकर "*श्वास*" द्वारा फेफड़े में होकर रक्त में प्रवेश करेंगी। रोगी को इससे कोई कष्ट नहीं—यदि मर भी गया तो कोई "रोग" को छोड़ कर दूसरा कष्ट नहीं हुआ। मृत्यु की औषधि न आप के पास है न मेरे पास है—वह तो अनिवार्य है। दुःखद् और सुखद का प्रश्न है।

"प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"

कीचड़ में हाथ सान कर धोने से अच्छा है कि कीचड़ स्पर्श ही न किया जाये। अतः रोग ग्रस्त होने से पूर्व स्वस्थावस्था में स्वास्थ्यप्रद औषधियों द्वारा "*हाम*" प्रातः सायं करते रहिये–ऋषियों की यह सुन्दर प्रणाली सुगम विधि है कि श्वास द्वारा बिना दुःख का अत्यन्त सुख से शीघ्र औषध रक्तमें मिल जाये और २४ घण्टे में जो विष रक्त में मिला हो उसको सुगन्धित परमाणुओं से सर्वथा नाश कर दे। न नस्तर लगे, न रक्त बहे न कड़वी दवाई पीनी पड़े और न रोगी को विस्तरे पर करवटें बदलनी पड़े।

अतः प्रतिदिन हवन कीजिये–और साप्ताहिक बड़ा हवन (रोज़ से दुगना कम से कम) कीजिये। इससे आप का, जाति का, भला होगा। शरीर वृद्धि होगी। अन्नादि बढ़ेंगे। धन स्वय अधिक होगा और शान्ति का राज्य ससार में फैलेगा।

एक आलङ्कारिक कहानी है :—

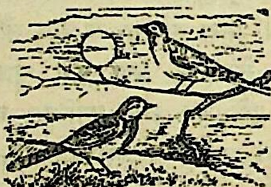
२४—एक समय में एक मनुष्य की मृत्यु हो गई वह मर कर

परमात्मा के दरबार में पहुँचा। परमात्मा ने देखा बड़ा सुन्दर पुरुष है धर्मात्मा भी है, अपने जीवन में काफी दान पुण्य किया है।

यह पुनः मनुष्य जन्म का अधिकारी है। अतः इसे सर्वोत्तम मनुष्य शरीर पुनः प्रदान किया जाये। **एक देवता**—हाथ जोड़े खड़ा है। आप क्या चाहते हैं? मेरा नाम **"वायु"** है। यह मनुष्य बड़ा शौकीन था इतर-माला-सुगन्ध से सुवासित करके मुझे काम में लाता रहा—परन्तु जब मुझे त्यागता था—तो अत्यन्त दुर्गन्धित-बदबूदार स्वयं भी नाक दबाता—पड़ोसी भी दुःखी होते, अतः मेरा यह कर्ज़दार है जितना गंदा मुझे किया है उतना साफ़ करा दीजिये। परमात्मा ने पूछा. क्या यह ठीक है? भले आदमी ने कहा बिलकुल ठीक है॥ अच्छा तो आप जाइये—इसका *करज़ा* चुकाइये। कैसे चुकाऊँ? वायु शुद्ध करनेवाले जानवर "बिच्छु" साँप, कनगोजर, कानसलाई इत्यादि हैं—इनमें जन्म लो, जब वायु शुद्ध कर लो। वापस लौटकर आवोगे - तो मनुष्य जन्म मिलेगा। **कुछ समय** के बाद लौटा—तो दूसरा देवता खड़ा था—परमात्मा ने पूछा आप क्या चाहते हैं? मेरा नाम **"जल देवता"** है मुझे यह खूब सुगन्धित बनाकर पीता रहा—गुलाब केवड़ा डालकर। परन्तु जब त्यागता था—तो बहुत दुर्गन्धयुक्त होता था—जिसका इसे स्वयं भी अनुभव है। अतः यह मेरा *मकरूज़* (ऋणी) है इससे मेरा करज़ा दिलवा दिया जाये। जाओ भाई इसका ऋण चुकाओ—जितना पानी तुमने गंदा किया है—उतना "मछली, कछुआ आदि पानी के जीव बन कर शुद्ध करो। पुनः मनुष्य शरीर मिलेगा। **कुछ समय के** उपरान्त जब वह लौटा—तो तीसरा देवता खड़ा है, परमात्मा ने पूछा आप क्या चाहते हैं? मेरा नाम **"अन्न देवता"** है मुझे यह नाना प्रकार से प्रयोग में लाता था—५६ प्रकार के भोग लगाता था। परन्तु त्यागने के बाद इसने सफाई का प्रबन्ध नहीं किया। यह मेरा ऋणी है। इससे सफ़ाई करा दीजिये—

परमात्मा ने आज्ञा दी-जाइये-"बराह" बन जाइये—सफाई करके लौटो। इत्यादि कथा अलङ्कार के रूप में वर्णन की गई **"अवश्यमेव-भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"** किये हुये कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यदि "*अग्निहोत्र*" द्वारा अग्नि में सुगन्धित पदार्थ डालते-तो जल वायु की शुद्धि हो जाती इन योनियों से बच जाते। **अतः भणितं गोपथेन :—यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म—तस्मान्मनुष्येभ्यो यज्ञंप्राह।** अर्थात् "यज्ञ" ही श्रेष्ठतम् कर्म है अतः सब सभ्यों के लिये "यज्ञ" करना कहा है ॥

गो० उ० २-१३ ॥



॥ ओ३म् ॥

"वर्ण व्यवस्था"

१. वर्णानां व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था। केषां वर्णानाम् ? किं श्वेत-पीत हरितादि वर्णानाम् ? आहोस्वित्—अकारादि वर्णानाम् ? नहि-नहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्राणाञ्च वर्णानाम्।

व्यवस्था-इत्यस्य कोऽर्थः ? वि+अव+स्था-ड। अर्थात् शास्त्र विहितस्य विषयान्तर परिहारेण विषय विशेषे स्थापने-व्यवस्था शब्दस्य प्रवृत्तिः। शास्त्र मर्यादायाञ्च॥

२. वृञ्—वरणे से वर्ण शब्द निष्पन्न होता है। वर्णशब्दस्य स्वीकारार्थः। यह स्वीकार किया जाता है। जैसे-जैसे जिसके गुण कर्म स्वभाव होते हैं। वैसा ही उसकी संज्ञा होती है। इसे आचार्य देता है। अधस्तात् प्रमाणानि लिख्यन्तेः—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेद पारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरामरा॥

मनुः २-१४८,

सत्यं ज्ञानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मणः इतिस्मृतः॥१॥

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन संगतः ।
दानादान रतिर्यस्तु सवै क्षत्रिय उच्यते ॥२॥
विशत्याशु पशुभ्यश्च कृष्या दानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययन संपन्नः सवैश्य इतिसंज्ञितः ॥३॥
सर्व भक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्म करोऽशुचिः ।
त्यज्यवेदः सदाचारः सवै शूद्र इतिस्मृतः ॥४॥

अत्र श्लोकेषु-औपचारकोऽयं जाति शब्दः । न तु तात्विकः । वस्तुतस्तु "वर्ण" स्थाने जाति शब्दः । यहाँ वर्ण के स्थान में जाति शब्द प्रयुक्त है ॥

भावार्थ :— वेद पारग आचार्य विधिवत् जिस वर्ण को "सावित्री" द्वारा देता है वह ही वर्ण समीचीन होता है। जैसे आज कल आर्य समाज के गुरुकुलों में "अलङ्कार, शिरोमणि, शर्मा, वर्मा, गुप्तादि उपाधिये दी जाती हैं। एवं वाराणसीय महा विद्यालयों में "शास्त्री, आचार्य-आदि की उपाधियें दी जाती हैं, तथा बी०ए०,एम०ए० आदि की डिगरियें मिलती हैं। ऐसे ही "शास्त्र मर्यादा" के अनुसार—जहाँ "सत्य ज्ञान (वेद) अद्रोह, आनृशंस्य=दया, त्रया=लज्जा, घृणा=करुणा और तप दीखे-उसे *ब्राह्मण* कहो ॥ क्षात्र कर्म का सेवक, दान, कर-लेने वाला और वेदाध्ययन करने वाला "क्षत्रिय" कहाता है। वैश्य वेदाध्ययन, कृषि, पशु तथा दानादि में सम्पन्न "वैश्य" कहाता है। शूद्र सर्व भक्षी, अशुचि पूर्वक कर्म करने वाला, वेद बाह्य कर्म कर्त्ता "शूद्र" है ॥

३. जिसे स्वीकार किया जाता है, उसे त्यागा भी जाता है—

अतः—

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजेतच्च न विद्यते ।
नवै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥१॥

शूद्रेपि शील सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रिया हीनः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत् ॥२॥

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि "वर्ण" बदलता रहता है । अर्थात् क्रिया हीन "ब्राह्मण" "शूद्र" हो जाता है – क्रियावान् शूद्र ब्राह्मण हो जाता है । इनमें चढ़ाओ-उतार होता रहता है ॥

४. यदि सूक्ष्म बुद्धि से विचारा जाय तो जहाँ-जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ-वहाँ आरोहण तथा अवरोहण पाया जाता है । यथा श्वेत, पीत, हरितादि वर्ण (रंग) बदलते रहते हैं । जड़ वस्तुओं में भो परिवर्त्तन होता है—वृक्षों के हरे पत्ते पीत हो जाते हैं—फल भी हरित से पीत रक्त वर्ण के हो जाते हैं-चैतन्य में भी गरम देशों में जाकर कालिमा झलती है शीत प्रधान देशों को प्राप्त करके गोरापन प्रतीत होने लगता है ।

अकारादि वर्णों को देखिये—व्याकरण में *इकोयणचि-पाणिनि-मुनि* ६ । १ । ७७ "इकः" स्थाने यण् स्यादचि संहितायाम् । "इ" को "य" । "उ" को "व" । "ऋ" को "र" । "ऌ" को "ल"–हो जाता है । यह "अवरोह" हुआ, स्वर से "व्यंजन" हो गये, एक मात्रिक से अर्ध मात्रिक हो गये । (ब्राह्मण से नीचे के वर्ण को प्राप्त गुण घट गया) । अब "आरोह" देखिये "इग्यणः संप्रसारणम् ।" १ । १ । ४५ इससे संप्रसारण संज्ञा हुई । "संप्रसारणाच्च ।" ३ । १ । १०८ इस सूत्र से संप्रसारण हुआ—पुनः "य" को "इ" । "व" को "उ" । "र" को "ऋ" । "ल" को "ऌ" हो गया । यहाँ वर्णों का "आरोहण" = ऊपर चढ़ना हुआ । अर्थात् नीचे वाले वर्ण पुनः ऊपर चढ़ कर "ब्राह्मण" बन गये ॥

५. विना स्वर के व्यञ्जन काम नहीं कर सकता–क्यों कि "पतञ्जलि-मुनि" महाभाष्य में लिखते हैं "*स्वयं राजन्ते-इति स्वराः*"=जो विना

दूसरे के प्रकाश दिये प्रकाशित हो जायें—उन्हें "स्वर" कहते हैं "अनु-अक्भवतीति व्यञ्जनमिति" जो बिना स्वर के अपना काम न कर सके उसे "व्यञ्जन" कहते हैं। ऐसे ही बिना ब्राह्मण के वर्णों का कार्य रुक जाता है। सब वर्ण इसी की आज्ञा से सब काम करते हैं। इस पहेली को वेद ने बड़े सुन्दर ढंग से हृदयंगम कराया है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रोऽअजायत ॥
ऋग्. १०। ९६। १२

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत ॥
अथर्व १९। ६। ६

अर्थ :—अस्य=इसका (मनुष्य समाज का) मुखम्=मुख्य, प्रधान अंग, ब्राह्मणः=ब्राह्मण, आसीत्=अस्ति=है। बाहूराजन्यः कृतः=भुजायें "क्षत्रिय" हैं॥ अस्य-यत्-ऊरू-तत्-वैश्यः=इस समाज का जो मध्य भाग है वह "वैश्य" है। पद्भ्यां-शूद्र :—अजायत=पाँव के लिये "शूद्र" होता है। "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः। अ० ३। ४। ६। वेद में सामान्य काल में तीनों लकार प्रयुक्त होते हैं। *धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्व कालेषु-एतेवास्युः* ॥

व्याख्या :—मुख शब्द से जिह्वा के निवास-स्थान का ही केवल ग्रहण नहीं होता—अपितु संस्कृत साहित्य में पूर्ण शिर से अभिप्राय है—यथा "चन्द्र इव मुखम्" यह मुख चन्द्र जैसा मनोहर है, इत्यादि वाक्यों में पूरे शिर या चेहरे का बोधक है। अतः *पाँचों ज्ञानेन्द्रिय* और *एक कर्मेन्द्रिय* का भण्डार है। ६ इन्द्रिय *शिर में हैं*—त्वक समस्त शरीरवर्त्ती है। इससे सामान्य ज्ञान सबमें है। परन्तु विशेष ज्ञान जिसमें हो वह मुख है—*मुख्य है*, श्रेष्ठ वा ज्येष्ठ है। जो ब्रह्मवित्त

है वह "ब्राह्मण" है—उसी की आज्ञा में सबको चलना चाहिये—अन्यथा क्षति होगी। "सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्" प्रधानता ज्ञान की है। दूसरे तीन भागों से इसमें हड्डी, मज्जा, मांस कम है—अर्थात् इसे प्राकृतिक वस्तुयें कम रखनी चाहिये—इसी को वैराग्य कहते हैं। दो इन्द्रियें सबसे ऊँची हैं—कान और आँख, अतः—

"श्रोतव्यः श्रुति वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः-
मत्वा च सततं ध्येयः-एते दर्शन हेतवः"।

अर्थात् श्रुतियों द्वारा सुनकर जानकर उपपत्तियों द्वारा निश्चय करके साक्षात्कार कर लेता है। आँख से प्रत्यक्ष कर लेता है, वह पण्डित होता है—"ब्राह्मण" होता है॥

५. अब "जिह्वा" कर्मेन्द्रिय द्वारा उसे—

"यथेमां वाचं कल्याणीं—आवदानी जनेभ्यः"

इस ईश्वर आज्ञा के अनुसार सबको सुन्दर वेदाज्ञा सुनानी चाहिये—सब विद्याओं के भण्डार वेद को पढ़ना चाहिये—इससे यह भी सिद्ध हुआ कि कान और आँख को ईश्वर ने बराबर दर्जा दिया है। अतः आँख के प्रत्यक्ष ज्ञान में जितना मनुष्य को निश्चयात्मिक ज्ञान होता है उतना ही "आपतोपदेशः शब्दः"=आप्तकाम साक्षात्कृत् धर्मा ईश्वर के उपदेश वेद को भी निश्चयात्मिक मानना चाहिये—अर्थात् प्रत्यक्ष और ईश्वरीय ज्ञान दोनों समान हैं।

६. मुख परोपकारी है, जो विद्या पढ़ी-सुनी सब वाणी द्वारा दूसरों को दे दी। जो वस्तु इसे खाने को दी जाती है—उसे कई प्रकार की परीक्षाओं द्वारा पास करके तब "रसीद" करता है—तब दाखिल दफ़तर करता है। उदाहरण—जैसे एक मनुष्य भोजन करने बैठा—जब उसने ग्रास उठाया—तभी गरम ठण्डे का उसे ज्ञान हो गया—एक

इन्द्रिय "त्वक्" ने उसे पास कर दिया, परन्तु आँख देख रही थी— उसने नापास कर दिया—कहा फैंक दो—इसमें "बाल" पड़ा हुआ है। दूसरा ग्रास उठाया तो "नाक" ने नापास कर दिया—मत खाओ इसमें मिट्टी के तेल की या बासीपने की गन्ध आती है। और ग्रास उठाया तो वह मुख में गया—परन्तु मुख ने निकाल बाहिर फैंका-ओहो—इसमें निमक बहुत ही अधिक है। **"अखाद्योऽयम्"** अबकी वार बड़ी सावधानी से काम लिया गया—भोजन बहुत बढ़िया है—बड़े स्वाद से खाने लगे—सराहा=प्रशंसा करने वाले थे कि इतने में एक छोटी सी "कंकड़ी" जो छिपके धीरे से जाना चाहती थी—वह बत्तीस दान्त रूपी सिपाहियों से बच न सकी—"कुट" से बोली—फ़ोरन दो दाँतो ने जैसे दो सिपाही एक मुलज़िम को लिये लिये जाते हैं—वैसे गिरफ़्तार कर लिया, रसना का रस भंग हुआ उसे अपनी नोक पर रख कर बाहिर फैंक दिया—**"गैट औट"**। इतनी सावधानी के बाद—जो चीज़ हमारे हित की है—भीतर जा सकती है। ठीक ऐसे ही चतुर, सुविज्ञ सावधान "चाणक्य" जैसे ब्राह्मण देश को प्राप्त हों—तो किसकी मजाल है कि देश के प्रांगण में अन्याय अत्याचार कर सके—और पंचमांगी बनकर घूमें तथा देशाधिकारियों को हैरान परेशान करे।

७. भो विद्वद्वर्य्य! एषा व्याख्या तु—अस्मदादीनां वर्त्तते-वेदेऽपि-अस्य मुखस्यं=शिरस्य-अत्युत्तमा ज्येष्ठा श्रेष्ठा च व्याख्या दरिदृश्यते :—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे"

यजुर्वेद ३४-५५॥

अर्थ :—अस्मिञ्छरीरे स्थिराणि व्यापकानि विषयबोधकानि सान्तःकरणानि ज्ञानेन्द्रियाण्येव सातत्येन शरीरं रक्षन्ति (दयानन्दर्षि)।

ऋषयः=साक्षात्कृत धर्माणः सन्ति—इन्द्रियें अपने विषय का साक्षात्कार करती हैं-अतः इन्हें ऋषि कहा गया है। ये बाहुल्येन "शिर" में रहती हैं।

शतपथ ब्राह्मण १४।४।२। बृहदारण्यक २।२।३ में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है कि "यथा ऋषयः प्रविभज्य पदार्थान् निश्चिन्वन्ति निश्चित्य च प्राणिभ्यो ददाति तथैव इमे सप्त चक्षुरादय ऋषयः दीयमानं वस्तुं विविच्य यथा स्थानं न यन्ति। जैसे आँख ने देखा बड़ा सुन्दर पका हुआ "आम" है—शूद्र वहाँ तक ले गये—क्षत्रिय ने उठाया परन्तु "नाक" ब्राह्मण ने नापास कर दिया, खट्टा है मत लो—इसकी गन्ध कहती है। यही "विवेचना" है—यही "ऋषित्व" है। एवं सर्वत्र-ऊहा कर्त्तव्या। सप्त ऋषियों के नाम :—

१. गोतम=इस "तमप्" प्रत्यान्त "गो" शब्द का अर्थ देववाणी=वेद है। ये वेद गुरुमुख श्रवण से ही उत्तम तया धारण किये जा सकते हैं। अतः दक्षिण कर्ण "गोतम" है।

२. भरद्वाज=वाज=ज्ञान-एवमेव ज्ञान को धारण करने से वाम कर्ण "भरद्वाज" है।

३. विश्वामित्र=सर्वस्यैवहित मित्रम् (मित्रे चर्षौं-६।३।१०३) इति पूर्व पदस्य दीर्घः, अथवा सर्वमेत्र तस्य मित्रम्-इति "विश्वामित्रः"। वेद में भी आदेश है "मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" अतः दक्षिण चक्षुः "विश्वामित्र" है।

४. जमदग्निः = प्रभूताग्नि वाला—यज्ञकर्त्ता, जमित + अग्निः, जमदग्निः। जमत् + अग्निः जमदग्नि = प्रज्वलित अग्नि वाला, (जमदग्निः इति ज्वलित नामसु पठितम्—निघण्टु। जमदग्नयः=प्रज्वलिताग्नयः—निरुक्त-दै० का०)। इन्द्रियों में एकमात्र "चक्षु की ज्योति चमकती है। अतः वामचक्षु "जमदग्निः" है।

५—वसिष्ठ=प्राण वासकतम है (सुगन्धवाला) प्राण संचार का मार्ग "नासिका" है अतः दक्षिण पार्श्व "नाक" "वसिष्ठ" है।

६—कश्यप=प्राणों के वशीकरण से ही योगी पश्यक=आत्मदर्शी होता है। अतः वामपार्श्व नाक—"कश्यप" है। "कश्यपो वै कूर्म्मः

७

प्राणो वै कूर्म्मः—शत० का०-७-५। इससे "प्राण" की "कूर्म" और "कश्यप" संज्ञा है। 'यथा कूर्म्मः स्वांगान् संकोच्य स्थिरो भवति भूमिश्च लभते, तथैव आत्मा प्राणान् संकोच्य "भूमाख्यं" आत्मानं लभते"।

अर्थः—जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट कर स्थिर हो जाता है—और पानी के नीचे "भूमि" को लाभ करता है। इसी प्रकार से "आत्मा' प्राणायाम द्वारा वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके "भूमा" नामक परमात्मा को प्राप्त करता है।

७—अत्रिः = अत्तीति-अत्रिः—अतः मुखमस्ति=खाता है अतः मुख है॥ इन सुन्दर युक्ति युक्त व्याखयानों से भली-भाँति ज्ञान होता है कि वस्तुतः जिसने मनुष्य-शरीर की सुन्दर रचना की है—उसी ने वेदों की भी रचना की है—अर्थात् वैदिक ज्ञान हमें प्रदान किया है। रचैयता ही भीतरी मर्म को समझ सकता है॥

८—बाहू राजन्यः कृतः" *बाहु शब्दस्य कोर्थः-बाधृ-विलोडने, इत्यस्माद्धातोः औणादिक उःप्रत्ययः-धस्य हच बाहू-इति निष्पन्नः। बाहु कस्मात्? प्रबाधते-आभ्यां कर्माणि "निरुक्त"।* इससे मनुष्य कर्मों को विलोडन करता है, अर्थात् अनेक क्रियायें करता है—अतः इन्हें 'बाहू" कहा गया।

९—असल में बाहू *"पावरहौज़"* हैं, जैसे *"शिर"* पावरहौज़ है—इसमें (शिर में) सब बैटरियें फिट हैं—अपनी-अपनी बैटरियों से आँख-नाक, कान आदि *"कनेकटेड"* हैं। जिसकी बैट्री फेल हो जाती है वह इन्द्रिय ऊपर से साफ दिखाई देती है—परन्तु रौशनी गायब श्रवण गायब और इसके साथ-साथ विधाता (स विधाता०। वेद) का बड़ा कड़ा नियम है, कि ये इन्द्रियें एक-दूसरे की "बैट्री" से काम नहीं ले सकती। जसे हम एक बैट्री फेल मोटर को—दूसरी चालू बैट्री वाली मोटर से स्टार्ट (चालू) कर लेते हैं--यहाँ नहीं हो सकता।

१०. बाहू पावर हौज़=शक्तिगृह है—अर्थात् इनमें केवल शक्ति-शक्ति है—कार्य सम्पन्न तो अँगुलियें करती हैं—मैं अंगुलियों से "फौन-टेनपैन" पकड़कर लिख रहा हूँ—लाठी वाला अंगुलियों से लाठी पकड़ता है, और "बाहू" से फोर्स=शक्ति लेकर चलाता है-एवमेव दान समय में भी तण्डुल गोधूम आदि की मुट्ठी या अञ्जुली इन्हीं की बनाई जाती है। अतः **अंगुल्यादिभिः सर्वाणि कार्य्याणि सिद्धयन्ति।**

११. यास्कमुनि ने "बाहु" का निर्वचन करके छोड़ दिया है। परन्तु अंगुलि शब्द के सात (७) निर्वचन किये हैं—अङ्गुलयः कस्मात्—अग्र+गम=प्रत्येक कार्य में अग्रगामी है। २—अग्र+गल= पहिले निगलने वाली है। ३—अग्र+कृ=पहिले काम करनेवाली है। ४—अग्र+सृ=आगे चलने वाली। ५—अङ्क+न=गणना करने वाली है (अङ्क से) अर्थात् उंगलियों पर गिनती गिनते हैं। ६—अञ्च=अञ्चू-गति पूजनयो=पहुँचने वाली है। ७—अञ्ज=मलने से ही है (इससे मालिश की जाती है)। **तासामेषा भवति—ऋग्वेद १०-९४-७।**

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः।
दशाभीशुभ्यो-अर्चताजरेभ्यो दशधुरोदश युक्तावरुद्भ्यः॥

अर्थ:—दस रखवाले, दोनों हाथों की दस अंगुलियाँ हैं। इसी प्रकार प्रकाशक, जोतरे, जोड़ने वाले, और "रासें" भी दश अंगुलियें हैं। भिन्न-भिन्न कर्म प्रकट करने के लिये—भिन्न-भिन्न नामों से अंगुलियाँ ही कही गई हैं। इन्हीं से मुष्टा-मुष्टी, केशा-केशी होता है। **यही हैण्ड टू हैण्डफाइट करती हैं॥**

१२. इन सबके कहने का अभिप्राय यह है कि क्षत्रिय=क्षतात् त्रायते इति "क्षत्रियः" अर्थात् ब्राह्मण आदि वर्णों पर जो आपत्ति आये उसका त्राण=रक्षा इसी वर्ण के अधीन है, यही इसका धर्म है।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्ञाध्ययनमेवच ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य सभासतः ॥

मनुः १-८९ ॥

शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥

गीता १८-४२ ॥

अर्थ :—प्रजाओं का रक्षण, दान, यज्ञ, वेदों को पढ़ना, ब्रह्मचर्य को धारण करना, ये "क्षत्रिय" के ५ कर्म हैं। (६ कर्म ब्राह्मण के हैं—वेद का पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ का करना-कराना, दान लेना और देना ; क्षत्रिय के ५ हैं)। शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्यम् = युद्ध चातुर्य, युद्ध से कभी न डरना, दान, ईश्वर भाव = पितृवत् प्रजा का पालन, ये क्षत्रिय के स्वभाव में रहने चाहिये ॥

१३. इसी रक्षा को ध्यान में रखते हुये परमात्मा ने ब्राह्मण से क्षत्रिय को एक हाथ "दाहिने" से और एक हाथ "बाँयें" से ऊँचा रक्खा है। यदि आजकल के ब्राह्मणों के विचार "ब्राह्मण से कोई ऊँचा नहीं हो सकता" ईश्वर भी इसका अनुमोदन कर देता, तो ब्राह्मण पर (शिर पर) वार होते समय कौन बचाता ? मार खाते खोपड़ी फूट जाती, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब समाप्त हो जाते। ईश्वर के सब कार्य वैज्ञानिक हैं— वहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं, काम छोटा-बड़ा होता है।

१४. ऊरु तदस्य यद्वैश्यः-ऋग्-यजुः ।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः—

अथर्ववेद ॥

अथर्ववेद के "मन्त्र" से "ऊरु" का अर्थ विस्पष्ट हो गया—अर्थात् "वैश्य" पेट से जंघा तक है।

१५. विश-प्रवेशेन धातु से क्विप् स्वार्थ में ष्यञ् लोप वृद्धिः- इति "वैश्यः"। इसका अधिकार "यजुर्वेद" ३० में "मरुद्भ्यो वैश्यम्" अर्थात् वायुवत् सर्वत्र प्रवेश करनेवाला-व्यापार-व्यवसाय के लिये ॥ मनुःस्मृति-१-९० देखिये :-

"पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

कुसीद=व्याज का लेना और देना॥

१६. एरिया-जैसे "ब्राह्मण" शिर से "कण्ठकूप" तक है। क्षत्रिय स्कध से "हृत्कूप" तक है। सम्पूर्ण "लैंगस्" "हार्ट" और "लीवर" आदि मूल्यवान् अंगों का स्वामी है। एवं रीत्या "वैश्य" का "एरिया" हृत्कूप से धुटने तक है। शरीर का यह भाग धन सम्पन्न है।

१७-उदर में सब वस्तुयें जो ब्राह्मण, शूद्र तथा क्षत्रिय द्वारा प्राप्त की जाती हैं-वे संशोधन करके (उदर में) पहुँचा दी जाती हैं। उदर का काम है कि आँतों द्वारा उनका सत् खैंचले-और उस सत् को सातवें दर्जे तक पहुँचा कर पूर्ण संशोधनार्थ "कोषों" में पहुँचा दें-और दोनों "कोष" उसे सोम=वीर्य्य बना कर शिर में पहुँचा देंगे-जिससे "ललाट" हीरे की भाँति चमकेगा, यह शिर उसे अपना भाग रखने के बाद अर्थात् आँख, नाक, कान, मुखादि 'एज़ायेरईसा= ज्ञानेन्द्रियों को तृप्त करने के बाद समस्त शरीर को बाँट देगा। अर्थात् कच्चामाल पक्का हो गया "अर्घ्यवान्" हो गया। यह निधिः अमूल्य रत्नों वाली वैश्य द्वारा ही तय्यार होती है। इसे और कोई तय्यार नहीं कर सकता-अतः वेद ने वैश्य=खज़ान्ची क्या सुन्दर चुन कर रक्खा है।

१८-वैश्य को चाहिये कि कच्चा माल लेकर अपने यहाँ इकट्ठा करें-

और सोम के समान उसे कीमती बना कर प्रजा के अर्पण कर दे। जिससे सारी प्रजा हरी-भरी चमकीली *खुशहाल* और *वीर्यवान्* हो जाये।

१९—यदि उदर ने स्तेय वृत्ति धारण की—थोड़ा-थोड़ा रोज बेईमानी द्वारा चुराने लगा—तो रेचन क्रिया द्वारा पाव भर का सेर भर "*विद्‌पिनलट्टी*" निकाला जायेगा—जिससे स्वयं भी दुःखी होगा और अड़ोसी-पड़ोसी भी।

यही दशा वैश्य की है। यदि धन संग्रह करके—देश की सेवा करते रहे, तो कीर्ति, यश फैलेगा, देश सुखी रहेगा। यदि बेईमानी करके धन संचय किया—तो धीरे-धीरे मूल सूद दोनों घर से जायेंगे—फौजी कानून लागू होगा, अराजकता, भ्रष्टाचार-अनाचार-अत्याचार आदि-आदि बढ़ने लगेंगे। घर में कलह, राग-द्वेष बढ़ेगा। देश में दुःख, दर्द बढ़ता जायेगा—भुखमरी-मँहगाई से देश कष्टमय हो जायेगा। परमात्मा करे सच्चे वैश्य बनें देश स्वर्ग तुल्य हो।

२०— "पद्भ्याँ शूद्रो जायत"—यजुः ३१-११॥

"निमित्तार्थे—अत्रपञ्चमी" पैरों के लिये शूद्र बना है। **पाद= पद्यते गम्यतेऽनेन करणे घञ् वृद्धिश्च। चतुर्थांशे।** शरीर के चतुर्थ भाग का नाम "पाद" है **"तपसे शूद्रम्"**—यजुः ३०। जो "पैर" के समान *तपस्वी* हो उसे शूद्र कहते हैं। कठिन से कठिन दुःसाध्य शरीर सम्बन्धी श्रम में तत्पर रहने वाला।

२१—**"शुचा शोकेन द्रवतीति शूद्रः"**=जो दूसरे के क्लेशों को अवलोकन कर द्रवीभूत हो जाये और निराकरण के उपायें सोचे—उसे "शूद्र" कहते हैं और जिसके अन्दर सेवाभाव पैदा हो जाये उसे "शूद्र" कहते हैं। **मनुः देखो १-९।**

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुकर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ १॥

इन तीनों वर्णों की सेवा अनसूया = निन्दा रहित प्रीति-पूर्वक करे।

२२—पैर सारे शरीर का बोझ उठाये हुए हैं, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को जहाँ जाना होता है वहाँ पहुँचा देते हैं। शूद्र के पास ज्ञान साधन नहीं है—केवल परीश्रम करने की शक्ति है। इससे वे समाजरूपी शरीर की सेवा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो सेवा प्रधान है वह शूद्र है। ज्ञान प्रधान ब्राह्मण है। बल प्रधान क्षत्रिय है। धन प्रधान वैश्य है। अत्रकव्युक्ति :—

"ज्ञानदा ब्राह्मणः प्रोक्ता, क्षत्रियः त्राणदः स्मृतः।
अन्नादो हि प्राणदः वैश्यः-शूद्रो सर्व सहायदः॥ २॥

२३—कुछ लोगों का विचार है कि शूद्र नीच है, अस्पृश्य है, अशुद्ध है—परन्तु यह सर्वदा सर्वथा अनर्गल विचार है। क्योंकि जब कोई प्रणाम करता है तो पाँव छूता है—शिर नहीं छूता—पाँलग्गी पैरी-पौना करता है सिर लग्गी नहीं करता—इससे "दिललग्गी" = मखौल हँसी मज़ाक हो जायेगा। तो उसे आशीर्वाद की जगह गाली तथा कुवाच्य सुनने पड़ते हैं।

२४—बड़े-बड़े महानुभावों तथा नेताओं के आगमन पर सुन्दर-सुन्दर महार्घ्य = बहुमूल्य रेशमी मखमली बिछोने बिछाये जाते हैं— और चरणों में प्रणाम करके कहा जाता है आइये पधारिये पदार्पण कीजिये—अहो भाग्य हमारे जो आपके "चरणकमल" आये हमारा घर पवित्र हो गया—इत्यादि। किसी ने यह भी आज तक कहा—कि आईये "शिरार्पण" कीजये? ब्राह्मण भी जब अपने बड़ों को मिलता है तो पैर स्पर्श करके प्रणाम करता है। ब्राह्मण पैर की पूजा करने वाले को आशीर्वाद देता है—खुश रहो आनन्द रहो। और आज कल की तो कथा ही निराली है। ५) हैट, तो ५५) का पापोश = पदत्राण है। बताइये किसकी इज़्ज़त है।

२५—विष्णुपादोदकी गंगा। विष्णु के पाँव से गंगा निकली है। हे गंगे ! तव दर्शनान्मुक्ति-स्नाने न जाने किंफलम् = हे गंगा तेरे दर्शन से मुक्ति है स्नान से न जाने क्या फल होगा। दृष्ट्वा जन्म शतं पापं स्पृष्ट्वा जन्म शतद्वयं स्नात्वा जन्म सहस्त्राणि हरति गंगा कलौयुगे। गंगा के देखने से १०० जन्म के, छूने से २०० जन्म के, स्नान करने से हजार जन्म के पाप धुल जाते हैं। (१३०० सौ के मुसलमान एक डुबकी में हिन्दू हो सकते हैं।) यह "शूद्र" से निकली नदी की महिमा है। मन्दिरों में (जहाँ शूद्रों को लोग घुसने नहीं देते) जब हम जाते हैं—तो वहाँ भी "विष्णु पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते" = बोलकर "चरणामृत" देता है अर्थात् विष्णु के चरण का उदक पीकर मोक्ष हो जाती है। नासिकोदकं पीत्वा अथवा मुखोदकं पीत्वा = नाक का जल पीकर या मुख का जल पीकर कोई नहीं कहता। यह सब कुछ नहीं—ऊँच-नीच का विचार "उन्मत्त प्रलाप" है। गुणकर्मानुसार सब बराबर हैं। अपने-अपने काम में सब बड़े हैं। सब हथियार समाप्त हो जाने पर जब अक्ल काम नहीं करती—तब शूद्र (पैर) ही भागकर जान बचाता है। अभिमन्यु जैसा योद्धा पैर न रहने पर ही पैंतड़ा नहीं बदल सका, शूद्रों ने साथ छोड़ दिया—मारा गया। आज भी हिन्दू जाति ने शूद्रों का साथ छोड़ा हुआ है, इसी से इसका ह्रास हो रहा है।

"मुख का फल देखिये" :—

राजऋषि 'विश्वामित्र' से एक राजा ने कहा—कि हमें "यज्ञ" द्वारा "सशरीर" स्वर्ग पहुँचा दीजिये। महर्षे ! हमने सब ऋषियों से कहा है—परन्तु सबने नकार दिया—कि इस शरीर से नहीं जा सकते। दूसरा शरीर मिलेगा—उससे स्वर्ग भोगोगे। ऐसी अवस्था में यह शरीर हमें विस्मृत हो जायेगा। तब मज़ा नहीं आयेगा। अतः मैं आपकी सेवा में आया हूँ। "विश्वामित्र" ने कहा मैं तुमको यज्ञ द्वारा "सशरीर" अवश्य स्वर्ग पहुँचाऊँगा।

देखें कौन रोकता है। अतः यज्ञ हुआ–चन्द्रवंशी राजा "नहुष" को सशरीर विश्वामित्र ऋषि ने "स्वर्ग" पहुँचा दिया—परन्तु स्वर्ग से गिरा दिया गया–इधर विश्वामित्र ऋषि देखे मेरा प्रयास व्यर्थ हो रहा है–ऋषि ने रास्ते में ही गिरते हुये को रोक दिया––आजतक वे उलटा टँगा हुआ आकाश में "त्रिशंकु" बना लटक रहा है। और इसके "मुख" से जो "लार" गिरती है—"बद्रीनारायण" के पहाड़ों की ओर–उससे 'कर्मनासा" नदी बहती है, जिसमें स्नान करने से "कर्मनाश" हो जाते हैं-नहाने वाले को नरक होता है। यद्यपि ये दोनों गाथायें (गंगा और कर्मनासा की) कपोल कल्पित है। क्योंकि स्वर्ग नरक तो अच्छे बुरे कर्मों से मिलता है नदियों के पानी से नहीं। परन्तु इन पर विश्वास रखने वालों से पूछना चाहिये कि गंगा-चरण अर्थात् शूद से निकली वह तो "मोक्षदायिनी" है और "कर्मनासा" मुख से अर्थात् ब्राह्मण से निकली वह क्यों नरक में ले जाने वाली है ?

२६—कुछ लोग जन्म से वर्ण मानते हैं।

एकदा गोरक्षपुर नगरे शंका-समाधान समये—कश्चिद्वावद्कः प्रतिवादी भयङ्करः समायातः स च वदतिस्म। भो-भो सामाजिकाः। गुणकर्मानुसारेण जातिर्न जायते–अपितु जन्मना जातिर्भवति। मयोक्तं भो विद्वन्! देश भाषायां वक्तव्यं नहि सर्वे भवादृशाः। येन केन प्रकारेण स्वीकृता।

श्रीमान् जी जो आपने कहा है—उसी के अनुसार आर्य समाज मानता है– 'जाति जन्म से होती है"। अत्र नवीनाः वदन्ति "नित्यत्वे सति-अनेक समवेतत्वं जातित्वम्" = नित्य होकर अनेक पदार्थों में समवाय संबन्ध से रहने वाला जो धर्म है वही "जाति" है।

यथा :—*कम्बूग्रीवादिमत्वं घटत्वम्-इत्यन्त्र-अनेकेषु घटेषु अपं-घटइत्याकारका या अनुगत प्रतीतिर्वर्त्तते सैव जातिः।*

वात्स्यायन :—या समानानां बुद्धि प्रसूते भिन्नेषु—अधिकरणेषु = जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में समान बुद्धि को उत्पन्न करती है—वह जाति है। यथा यह गौ है वह गौ है ॥

न्यायदर्शन :—समान प्रसवात्मिक जतिः २-२-६७ ॥

अर्थ :—जो स्त्री-पुरुष मिलकर अपनी जैसी सन्तान उत्पन्न कर सकें—और उनकी परम्परा (नसल दर नसल) भी आगे चले—वे नर-नारी दोनों एक जातिमें परमात्मा की ओर से उत्पन्न किये समझे जाते हैं और अश्व, अश्वी, गर्धभ, गर्धभी। इनके मिथुन (जोड़े) से इन जैसी सन्तान भी पैदा होती है और आगे परम्परा भी चलती है। अर्थात् वंश चालू रहता है। अतः यह एक जाति है। परन्तु दोनों को "मिक्स" (मिला) कर दिया जाये-तो दोनों में से एक भी न पैदा होकर-एक नई चीज **"खच्चर"**=अश्वतरी-पैदा हो जायेगी, और उस "अश्वतरी से आगे वंश नहीं चलेगा। यह परमात्मा ने हमें "कसौटी बना दी--कि ये दो जातियें भिन्न-भिन्न हैं—एक नहीं ॥ **इसी प्रकार** से मनुष्य—मनुष्य सब एक जाति हैं—**अयं मनुष्यः-अयं मनुष्यः** = यह मनुष्य है—यह मनुष्य है ऐसा जो अनुगत प्रतीति का कारण है-वह *"मनुष्यत्व"* जाति है ॥

२७—जो जन्म से ले के मरण पर्यन्त बनी रहे उसे जाति कहते हैं। (दयानन्दर्षि)

२८—**गर्धभाश्ववत्** परीक्षा करके देखो। कोई किसी देश का रहने वाला, किसी भाषा का बोलने वाला—या किसी मतमतान्तर का हो—ईसाई, मूसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी आदि-आदि—इन सबके आपस में विवाह सम्बन्ध होते हैं—वंश परम्परा चलती रहती है। **स्वर्गीय** पूज्य महात्मा गांधी जी आधुनिक जाति-पांति के मिथ्यावाद को **छोड़कर "राजगोपालाचार्य गवर्नर"** की सुपुत्री से अपने सुपुत्र का शुभ

विवाह किया–ब्राह्मण-बनिया तथा "मद्रासी" और "गुजराती" का भेद-भाव नहीं माना। स्वर्गीय स्वनामधन्य "प्राइममिनिष्टर" अद्वितीय पुरुष संसार–विख्यात "जवाहर लाल नेहरू" को देखो-पारसी को अपनी कन्या दी--अर्थात् शुभ विवाह किया—उससे दो पुत्र संजीव और राजीव हुये—इनमें से "बड़े सुपुत्र संजीव" का शुभ-विवाह *श्री सोहनी देवी* से "इटालियकन्या" से हुआ और *श्रीमती इन्द्रा गांधीजी भारत गणतन्त्र राज्य की* "प्रधान मन्त्री" हैं। दोनों महानुभावों की "वंश" परम्परा चल रही है।

अतः सब सृष्टि के मनुष्य एक जातिवाले हैं। इनमें कोई अवान्तर भेद नहीं कोई जाति उपजाति नहीं। *अज्ञानान्धकारावृत* बुद्धि से व्यर्थ मिथ्या प्रलाप करने वाले भेद बुद्धि पैदा करते हैं।

प्रसिवादी भयङ्करः—किं भोविद्वद्वर्य्य ! ब्राह्मणादि वर्णों को आप स्वीकार करते हैं ? **उत्तर**—अवश्य करते हैं। उसका अर्थ ही स्वीकार करना है। यज्ञ में "ब्रह्मा" आदि का वर्ण किया जाता है। ब्रह्मा की उक्ति है–वृतोस्मि = मैं स्वीकार करता हूँ। यज्ञ की समाप्ति पर वर्ण समाप्त हो जाता है। यदि नित्य होता तो किया ही न जाता—और न छूटता ही। अतः "*वर्ण*" अनित्य है।

प्रश्न:—तो क्या ब्राह्मण क्षत्रिय अपने वर्ण से भिन्न की "कन्या" ले सकते हैं ? और क्या "वर्ण" बदलता भी है ? इसमें शास्त्र प्रमाण दीजिये।

उत्तर:—भिन्न वर्णों की कन्याओं से विवाह में "शास्त्र" प्रमाण:—

मनुः ३-१६ में।

शूद्रैवभार्या शूद्रस्य साच स्वाच विशः स्मृते।
ते च स्वाचैवराज्ञश्चताश्चस्वाचाग्र जन्मनः॥

अर्थ :—शूद्र एक से, वैश्य दो से, क्षत्रिय तीन से, ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता है। "वर्ण परिवर्त्तन का प्रमाण" मनुः २-१६८।

योऽनधीत्यद्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्‌ः।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥
शूद्रो ब्राह्मणामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्‌।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्या द्वैश्यात्तथैव च॥

मनुः १०-६५॥

अर्थ :—जो द्विज वेद न पढ़कर, अन्यत्र श्रम करता है—वह जीते जी ही सपरिवार शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। ब्राह्मण कर्म से शूद्र हो जाता है। शूद्र ब्राह्मण हो जाता है, ऐसे ही क्षत्रिय आदि भी॥

"आपस्तम्बीयसूत्र" :—

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्व-
पूर्वं वर्ण मापद्यते-जाति परिवृत्तौ॥१॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं
जघन्यं वर्ण मापद्यते जाति परिवृत्तौ॥२॥

अर्थ—धर्म के आचरण से शूद्रादि वर्ण ऊपर वाले ब्राह्मणादि वर्ण को प्राप्त होते हैं॥१॥ अधर्माचरण से ऊपरवाले वर्ण नीचे चले जाते हैं॥२॥ अग्ने भविष्यपुराणे–ब्राह्म.-अ. ४२

हरिणी गर्भ संभूतः ऋष्य शृंगो महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम्‌॥२६॥

श्वपाकी गर्भ संभूतः पिता व्यासस्य पार्थिव ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥२७॥
उलूकी गर्भ संभूतः कणादाख्यो महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥२८॥
गणिका गर्भसंभूतो विशिष्टश्च महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥२९॥
नाविका गर्भ संभूतो मन्दपालो महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥३०॥

पुनश्च मनुः—७-४२ ।

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेवच ।
कुवेरश्च धनैश्वर्य्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥

गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन "ब्राह्मण्यं" प्राप्तवान् । (विनयात) कुल्लूक भट्ट नाना द्विजेतरों से उत्पन्न "ऋश्यशृंग, पाराशर, कणाद, विशिष्ट, मंदपाल, तथा गाधि-पुत्र विश्वामित्र, = क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये । और सब भी महामुनि, ऋषि, महर्षि हो गये । व्यास = व्यस्यति वेदान-वि+अस+घञ् = व्यास । वेदपारगः, "यो वेदं वाचयेद्विप्रः स ब्रह्मन्! व्यास उच्यते" । पाराशरः-श्वपाक्यां जातः, श्वानं पचति कर्त्तरि घञ्-स्त्रियां ङीप् । स्वयं पाराशरजी श्व-पाकी पुत्र होकर "मत्स्य-गन्धा" = मल्लाह की कन्या में "व्यासजी" को उत्पन्न किया । व्यास-जी साङ्गो पाङ्ग वेद पढ़े । गुण कर्मानुसार "वेद व्यास" बने—आज तक "व्यास गद्दी" अजरामर है । कोई कथा वाचक ब्राह्मण नहीं कहता कि

यह "गद्दी" अछूत की है, श्वपच=श्वनःपच्यन्ते यैः-भोजनाय, पच+घञर्थेक । स्वपच कुलोत्पन्नो की है । हम भी इस पर बैठ-कर "स्वपची" हो जायेंगे—अपितु अपने ब्राह्मण वाले नाम के स्थान पर "व्यास" कहना और कहलवाना श्रेयस्कर समझते हैं । कुछ आर्य-सामाजिक भी "व्यास" उपाधि को लगा कर बड़े "प्रसन्न" होते हैं—ये भी जब "जन्म" का विचार करेंगे तो "सन्न" रह जायेंगे—परन्तु आर्य समाजिक तो स्वामी दयानन्द जी महाराज की "गुण-कर्म" वाली "ढाल" को लेकर जान बचा लेंगे । किन्तु पुराणपन्थी क्या करेंगे ? अतः मेरी सब पौराणिक महानुभावों से सविनय प्रार्थना है कि वे ऋषि दयानन्द सरस्वती जी महाराज के बताये वेद मार्गानुसार गुण-कर्म स्वभाव से "वर्णव्यवस्था" माने—जन्म से नहीं । "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः । महाभारत भीष्म पर्व—अध्याय २८—श्लोक—१३ ॥ अर्थात् चारों वर्ण गुण कर्मानुसार हैं ।

२९—यह भेद-भाव आधुनिक अविचारी पुरुषों ने फैलाये हैं । प्राचीन समय में "पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी" जब लक्ष्मण के साथ "शबरी सिद्धा" के यहाँ पधारे तोः—

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ १ ॥
पाद्यमाचमनीयञ्च सर्वं प्रादाद्यथाविधिः ।
तामुवाच ततो रामः श्रवणीं धर्म संस्थिताम् ॥ २ ॥
कच्चित्ते निर्जिता विघ्ना कच्चित्ते वर्द्धते तपः ॥ ३ ॥
रामेण तापसी पृष्ठा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता ॥ ४ ॥
अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तवसन्दर्शनान्मया ॥

अयंभावः—सिद्ध शबरी राम और लक्ष्मण को देख उठ कृताञ्जलि हो चरण पकड़ प्रणाम कर पाद प्रक्षालन व आचमन के लिये विधिपूर्वक जल देकर खड़ी हो गई। तब राम जी उस तपस्विनी धर्म संस्थिता "शबरी" से बोले—कि क्या आपको कोई तपो विघ्न तो नहीं? क्या आपकी तपस्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही है? राम जी के इस वचन को सुनकर वह सिद्धा सिद्ध पुरुषों से पूजिता वृद्धा "शबरी" बोली—कि आपके दर्शन से मुझे आज तपसिद्धिः प्राप्त हो गई।

३०—शबर जाति शूद्रा अतिशूद्रा असच्छूद्रा, इसके हाथ का पानी कोई नहीं पीता—छू जाने पर सचैल स्नान करना पड़ता है। जिस पर भी शबर की स्त्री "शबरी" और अधमा हो गई—परन्तु "रामजी" ने उसका जल ग्रहण किया—और उसने "पादौ जग्राह"=चरण पकड़ लिये। कहीं तो कथा सुनने में आती है कि "बेर" खिलाये जो उसने चखकर रक्खे थे।

३१—यह जाति-पाति का "भूत" हिन्दुओं के ऐसा सिर चढ़ा है—कि और भूत-प्रेत तो ये लोग "मन्तर-जन्तर" से उतार लेते हैं—परन्तु यह नहीं उतरता—इसे ईश्वर ही उतारे। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने तो यहाँ तक लिख दिया है **"कि मिथ्या जाति-पाति और फूट हत्यारी भारत से कब जायेगी या इसको ले बीतेगी"**। शुभं भूयात्॥

३२—प्रतिवादी भयंकर :—*भो विचक्षण महोदय! यद्भव्य-भावेन भणितं भवता तच्छ्रुतंमदवगतं धन्यवादार्हो भवान्।* मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिस प्रत्यय से मनुष्यत्व और गोत्व बनता है वैसे ही तो "ब्राह्मणत्व" क्षत्रियत्व भी बनता है—तो आप उसे जाति क्यों नहीं मानते?

उत्तर—त्व, त्व—के देखने से केवल जाति ही नहीं बनती—अपितु

"उपाधिः" भी बनती है—और वह दो प्रकार की होती है—एक "सखण्डोपाधिः" और दूसरी "अखण्डोपाधिः" = *अनिर्वचनीयो धर्मः-अखण्डोपाधिः* = जिसका जाति के समान निर्वचन न हो—उसे अखण्डोपाधिः कहते हैं। जैसे—प्रति योगित्व-अनुयोगित्व—धर्म है। "सखण्डोपाधिः" = *यो जातिवत्-निर्वक्तुं शक्यते सः सखण्डोपाधिः* = जिसे हम जाति की भाँति निर्वचन=निरुक्ति कर सकें वह "*सखण्डोपाधिः*" है। वह जाति से भिन्न है—*जातिर्नित्या, अनेकेषु नित्यसम्बन्धेन वर्त्तमाना—परन्तु सर्वे-उपाधयः-नश्यन्ति-प्रणश्यन्ति*। सब उपाधियाँ प्राप्त की जाती हैं—और नष्ट हो जाती हैं।

यथा :—आचार्य, शास्त्री, B. A., M. A., आदि-आदि, उपाधियाँ है।

प्रश्न :—ये उपाधिये "सादी" तो अवश्य हैं—परन्तु "सान्त" नहीं है—मरण पर्यन्त बनी रहती हैं।

उत्तर—आपने अच्छी "तर्क" दी है—परन्तु वैदिक पक्ष का खण्डन तों नहीं हुआ। उत्पत्ति धर्मक होने से "जाति" तो नहीं रही—यह तो निश्चय ही है। क्योंकि जो ईश्वर प्रदत्त हो उसे "जाति" कहते हैं। यह तो मनुष्य प्रदत्त है। अतएव यह "उपाधिः" हैं। "सादी" तो स्वतः सिद्ध है। "**सान्त**" पर ध्यान दीजिये। यह सर्वतन्त्र है कि विद्या-पढ़कर-रटकर-कण्ठस्थ की जाती है। **पिपठिषवः-अभ्यस्यन्ते** = पढ़ने की इच्छा वाले अभ्यास करते हैं। तब पण्डित होते हैं, वेदाभ्यास द्वारा "**ब्राह्मणत्व**" को प्राप्त होते हैं। **अभ्यासाभावात् पुनर्मूर्खाः भवन्ति**" = अभ्यास के छूट जाने पर पुनः मूर्ख हो जाते हैं। अतः इस "त्व" देखने से "जात्याभास"=जातिवत् प्रतीति होती है। जाति नहीं होती।

कुछ ऐतिहासिक घटनायें पढ़िये :—

(१) स्वर्गीय राहुल सांकृतायन जी महापण्डित ३६ भाषाओं के आचार्य थे। अमेरिका, लन्दन, फ्रांस, बिलज़ियम–इटली–अरब देश, रशिया, चीन, जापान इत्यादि देश विदेश—सब यूनिवर्सिटियों में "प्रोफेसर" रहकर पढ़ाते रहे। अनेक भाषाओ में उच्च कोटि के अनेक ग्रन्थ लिखे, जगत् विख्यात है। आर्य भाषा में दार्शनिक तथा ऐतिहासिक बड़ी अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखीं। परन्तु ६० वर्ष की आयु में वे रोगग्रसित हो गये—इस बीच में उनके मस्तिष्क से सब विद्यायें लुप्त हो गईं। अपने पराये सब भूल गये। उन्हें विशेष चिकित्सा के लिये "रूस" ले गये– वहाँ बड़े से बड़े डाक्टरों ने चिकित्सा करके कह दिया—कि यह अच्छे नहीं हो सकते। बचपन में जैसे निरक्षर थे—वैसे मरण पर्यन्त रह गये। यह घटना "आज समाचार" में पढ़ी। अंगरेजी के देशी-विदेशी सब समाचार पत्रों में छप गया।

(२) आर्यसमाज के मान्य प्रतिष्ठित लब्धख्याति पूज्य स्वर्गीय स्वामी मुनीश्वरानन्द जी सरस्वती दानापुर आर्य समाज मन्दिर (बिहार प्रान्त) में रोग पीड़ित हुये। स्मरणशक्ति लुप्त = समाप्त हो गई। रोग अच्छा हुआ, विशेष समय तक समाज में रहे– वेद. शास्त्र, पुराण मुसलमानों की हदीसे—कुछ भी स्मरण नहीं रहा–१ वर्ष के बाद धीरे-धीरे पुस्तकों की सहायता से पुनः स्मरण होने लगा—तब आ. स. के उत्सवों पर जाने लगे। निर्वाण तक याथातथ्य हो गये।

(३) मान्यवर महापण्डित अयोध्या प्रसाद जी आचार्य आर्यसमाज कलकत्ता अरबी, फार्सी, अंगरेजी, संस्कृत तथा फ्रेन्च आदि भाषाओं के महान् पण्डित थे। अमेरिका, अफ्रीका, लन्दन आदि देशों में आर्य-समाज का प्रचार करने गये–३ वर्ष बाद लौटे। शास्त्रार्थ, शङ्का समाधान-वहाँ के सम्प्रदायवादियों से किया। आर्य बनाये, शुद्धि की, आर्यसमाज के मन्दिर बनवाये। पूर्व भी और लौटने पर भी भारत देश (अपने देश) में बहुत बड़े-बड़े शास्त्रार्थ तथा उत्सवों में भाग लेते

रहे। बड़े कुशल वक्ता और शास्त्रार्थी थे। हिन्दू-ईसाई,मुसलमानों को तुरकी व तुर्की जवाब देते थे। ये "उरीजनल बुक्स" शास्त्रार्थ में सदैव अपने साथ रखते थे। सब संप्रदाय वाले इनका लोहा मानते थे। ७०-७५ में स्वर्ग सिधारे—परन्तु ५ वर्ष पूर्व ही स्मरणशक्ति अति क्षीण हो गई। उत्सवों में न जाकर केवल कलकत्ते में घर पर ही विश्राम करते रहे। कलकत्ता समाज के संरक्षण में रहे।

इससे नितान्त विस्पष्ट हो गया— कि ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण "आगमापायी" हैं आने जाने वाले हैं। उपाधि भेद से "त्व-त्व" प्रत्यय का दर्शन है। *नायं जातिः विधायकः प्रत्ययः* ॥

३३—उप संहार :—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत ०००"

इसी मन्त्र को लेकर "सेना" का संगठन होता है। सेनानी = सेनापति—कमाण्डर—"*ब्राह्मण*" है—उसके "आर्डर" = आज्ञा में सब हैं। सैन्य = सैनिक, लडाकू सब सिपाही "*क्षत्रिय*" हैं। रसद देने वाले-सब सामान इकट्ठा करने वाले "*वैश्य*" हैं। थक्के थकाये आये-चाय पानी पाये—कटे कटाये आये—मरहम पट्टी कराये—तरो ताज़ा होकर पुनः मोर्चे पर धाये॥ यदि *सेवक दल* न हो तो सब भूखे प्यासे मर जायें—कटे कटाये समाप्त हो जायें॥ सेवा से सब सुख मिलता है॥

३४—इस में से एक भाग हटा कर देखिये—फौज=सेना नहीं लड़ सकती—देश की रक्षा नहीं हो सकती— इसलिये देश वालों को चाहिये—कि वे चारों वर्णों को वहाँ भेजते रहें-जहाँ "नरमेध" हो रहा है। यज्ञ पूर्ण होगा—देश शान्त, दान्त, निर्भय—योग क्षेम से परिपूर्ण रहेगा॥

"ईश्वर के शब्दों में ईश्वर से प्रार्थना"

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥
यजुः १८-४८॥

अर्थ :—*नः ब्राह्मणेषु रुचारुचं धेहि*=हे जगदीश्वर ! हम लोगों के ब्राह्मण विद्वानों में प्रीति से प्रीति को स्थापन करो । *नः राजषु-रुचं कृधि*=हम लोगों के राजपूत क्षत्रियों में प्रीति से प्रीति को करो । *रुचं विश्येषु शूद्रेषु*=प्रजाओं में हुए वैश्यों में तथा शूद्रों में प्रीति से प्रीति को करो (दयानन्दर्षि) ॥

भावार्थ :—जैसे परमेश्वर पक्षपात को छोड़-ब्रह्मणादिं वर्णो में समान प्रीति करता है । वैसे ही विद्वान् लोग भी समान प्रीति करें । (ऋषि) ।

३५—सौन्दर्य्यमलङ्कार—यदि प्रभु उपमालङ्कार द्वारा चारों वर्णो के गुण-कर्म स्वभाव न हृदयङ्गम कराते तो सुन्दरता और मिठास जो पैदा हुई है वह न हो पाती ॥ **"काँटा लगा पैर में—आँसू आँख बहाये । बाहू ले गोदी धरें—मिल कर मारें हाय ॥** ऐसा ही प्रेमभाव तथा सहानुभूति सब वर्णों में होनी चाहिये ।

"समानी प्रपा सहवो अन्न भागः ।
समाने योक्त्के सहवो युनज्मि"

अथर्वः—३।३०।६'

हे मनुष्यों ! समानी प्रपा=तुम्हारे पानी पीने का स्थान एक हो । सहवो अन्न भागः=तुम्हारे भोजनादि व्यवहार एक हों ।

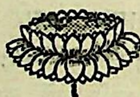
समाने योक्त्के=समान बन्धन में—वः+सह युनज्मि=तुम सबों को युक्त करते हैं ॥ अर्थात् चारो वर्णो का खानपान रहन सहन एक जैसा होना चाहिए ।

सारांश यह कि जाति नहीं बदलती—क्योंकि ईश्वर प्रदत्त है—ईश्वर प्रदत्त वस्तुयें बे बदल होती हैं **"अदब्धानि वरुणस्य ब्रतानि"** **(वेद)** । परमात्माके **"अदब्धानि=अहिंसितानि=न मरने वाले** अर्थात् **"अंचेंजेबुल"=न बदलने वाले—नियम से ही "सति मूले-**

तद्विण को-जाति-आयुः-भोगः" (योग)। अर्थात् जातिः-आयुः, भोग प्राप्त होता है!

कुर आने मजीद में भी मुख़ तलिफ़ मुकामों में ईश्वर के "लातबद्दुल क़ायदे कानून का बयान है—चुनाञ्चे सूरत "फतह" ४८, में फ़रमाया है कि "वलन् तजि दलिसुन्नतिल्लाहि तब्दीला"=और तू न देखेगा—अल्लाह की रसम (कानून) बदलती ॥ परन्तु "वर्ण" गुरु से "यज्ञो पवीत" तथा "सावित्री" मन्त्र लिये बिना "द्विज" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बन नहीं सकता ॥ जैसे पक्षी "द्विज" हैं—एक माता के उदर से दूसरा "अण्डे" से जन्म होता है। दान्त द्विज हैं-एक दूध से दूसरे अन्न से उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही "द्वाभ्यां जन्म सस्काराभ्यां जायेत-इति द्विजः"=एक माता के गर्भ से दूसरा गुरु के संस्कार द्वारा। इसी को द्विज कहते हैं ॥

अलम्--अति विस्तरेण "सिद्धा वर्ण व्यवस्था गुण कर्मानुसारेण-नतु जन्मना। युक्त्या शास्त्र प्रमाणेन च ॥



॥ ओ३म् ॥

"आवागमन"

१—आवागमन = आना-जाना। कहाँ से आना? जहाँ हो-वहाँ से आना। कहाँ जाना? जहाँ न हों-वहाँ जाना।

हम कहाँ हैं? इस शरीर में। कहाँ जायेंगे? दूसरे शरीर में। ठीक है-अब हम समझे—आवागमन के अर्थ हुये-एक शरीर को छोड़कर-दूसरे शरीर में जाना। अर्थात् "पुनर्जन्म" का नाम है "आवागमन"॥

२—मुसलमान साहेबान इसे "मसलै तनासुख" भी कहते हैं। परन्तु वैदिक आवागमन की भाँति यह एक ही प्रकार का नहीं है—अपितु दो प्रकार का है।

एक अरबियन मस्दिर = धातु "नस्ख़" से बना है, दूसरा अरबी के मस्दिर "मस्ख़" से बनता है।

पहिले रूट = धातु से "तनासुख़" बनता है, अर्थात् एक सूरत का दूसरी में होना = रूह = जीव का एक कालिब = शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जाना॥ "तमासुख़" = बदल जाना सूरत = रूप का खूबसूरती = सुन्दरता का—बदसूरती की ओर। इसको "वेद" नहीं मानता। कुरआन इसके स्वरूप का कुछ वर्णन करता है। अलमायदः ५,

मंल्ल अनहुल्लाहु व ग़ज़ब अ़लैहि वजअ़ल मिन् हुमुल् क़िरदतः वल् ख़नाज़ीर व अ़बदत्ताग़ूत"।

अर्थ:—वही जिसको अल्लाह ने लअ़नत की और उसपर ग़ज़ब हुआ और उनमें ग़ाज़े = कोई बन्दर किये और सुअर-और पूजने लगे शैतान को॥

इसका आशय यह है कि आत्मा निकाली नहीं गई—अपितु मनुष्य के शरीर की ही शकल बन्दर-सुअर कैसी बना दी—और वे शैतान को पूजने लगे-क्योंकि इन्होंने खुदा की हुकमअदूली=आज्ञा भंग की थी।

१३ आदमी हैं जिनको खुदा ने अभी तक "मस्ख" किया है।

१—फील=हाथी "लूतीवूद"=इग़लामी था।

२—खि़र्स=भालू-रीछ था-जो छोटे बच्चों से···करता था।

३—खरगोश=यह एक औरत थी—जो "**हैज़**"=मासिक धर्म के बाद स्नान नहीं करती थी॥

४—कज़्दुम=विच्छू-यह मनुष्य चुगुलखोर था।

५—सूसमार=गोह-यह मनुष्य डाकू और चोर है।

६—ख़ूक=सुअर-यह मनुष्य पैगम्बर के विरुद्ध काम करता था।

७—रुबाह=लोमड़ी-दुज़्द=चोर था।

८—बाखः=कछुआ-यह ज़ानी=हरामकार था।

९—ज़ाग=काक-यह मर्द घमंडी था।

१०—फ़ाख़्ता=यह मर्द झूठी कसमें खाता था।

११—कुञ्जशिक=चिड़िया-यह मर्द हराम का माल खाया करता था।

१२—मूश=चूहा-यह एक स्त्री थी, जो उचरत लेकर "**नोह**"=मुर्दे पर रोना और उसके अच्छे गुणों का बखान करती थी।

१३—वूम=उल्लू—तग़ैयुर्मज़हब खुदकरदः=जो अपना मज़हब बदलकर काफिर हो गया। "**ग़यासुल्लुग़ात**" में है?

३—आवागमन—तनासुख—पुनर्जन्म होता है-"**प्रतिज्ञा**" है—इसमें "**हेतु**" क्या है?

संसार—ईश्वर का बनाया हुआ है—इसमें सब प्राणधारियों को बुद्धिपूर्वक देखने से भलि-भाँति ज्ञात होगा कि प्रत्येक जीवधारी की शकल सूरत, रहन-सहन, खान-पान में भेद पाया जाता है, जब कि परमात्मा का सम्बन्ध सबसे बराबर है, और वह न्यायकारी है। तो फिर लँगड़ा, लूला, काना, गंजा, अन्धा, तन्दुरुस्त, कमजोर, सुन्दर, सुडौल, ऐश्वर्य-

वान्-धनवान्-निर्धन, भिखारी, आदि आदि क्यों दिखलाई पड़ते हैं ? कारण के बिना कार्य नहीं होता—अतःअजरुपे "मन्तिक" इस्तिदलाल "इन्नी" = कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। क्योंकि "कारणाभावात्कार्य्याभावः" वैशेषिक--१-२-१ बिना कारण के भिन्नता और भेद-भाव असम्भव है। अतः आत्माओंने ऐसे कर्म अवश्य किये—जिससे भेद-भाव उत्पन्न हुआ, इसलिये इन उपस्थित आत्माओं को इस जन्म से पूर्व कर्म करने के लिये शरीर अवश्य मिलना चाहिये जिससे इन आत्माओं ने छोटे-बड़े अनेक प्रकार के कर्म किये—अब उस शरीर को छोड़कर इस शरीर को धारण किया—इसी को "आवागमन" या "पुनर्जन्म" कहते हैं।

४. ये बाहिर के भेद-भाव देखे—इसी प्रकार से भीतरी भिन्नतायें भी है—जैसे सुखी दुःखी होना तीव्रबुद्धि मन्दबुद्धि, ईश्वरभक्ति, श्रद्धा, प्रेम, ज्ञान विज्ञान, गणित, भूगोल, खगोल, इतिहास, किस्से, कहानियाँ-आदि-आदि में प्रवृत्तिये पाई जाती हैं। परमात्मा को सब जीव प्यारे हैं-परन्तु कर्मों की 'विचित्रता" से जैसे बाह्य भेद-भाव है ऐसे आंतरिक भी भिन्नता है। चित्र विचित्र विचार हैं। इसीलिये पतञ्जलि मुनि ने कहा था—

"कर्म वैचित्र्यात् सृष्टि वैचित्रियम् "। योग,

पूर्व जन्मों के विचित्र विलक्षण, अद्भुत् कर्मो द्वारा यह दूसरा शरीर भोग के लिय प्राप्त होता है।

५. उदाहरणः—बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के हेतुयों के बाद अब आप उदाहरण पर विचार करें। जैसे विद्यालय महाविद्यालय स्कूलों तथा यूनिवर्सिटी आदि में पढ़नें वाले विद्यार्थी श्रेणीवार बैठाए जाते हैं—योग्यता के अनुसार यह श्रेणियाँ बनाई जाती हैं। इसका प्रबन्धक "कुलपति ' होता है, अराजकता नहीं हो सकती ठीक ऐसे ही संसार का "कुलपति" = परब्रह्म परमत्मा अस्मदादिकों के कर्मों का "याथातथ्य" = ठीक-ठीक सन्तुलन करके बाहिर-भीतर के कर्म फल भोग के

लिये - जन्म देता रहता है। **जिस प्रकार** पाठशाला में विद्यार्थी के श्रमानुसार-श्रेणी वार ऊपर चढाते हैं - आलसी नम्बर न लाने से फेल होकर उसी श्रेणी में पड़ा रहता है—विशेष नियमों का उलंघन करने से कोलिज से निकाल दिया जाता है। वह अब किसी कोलिज या स्कूल में नहीं पढ़ सकता। इसी प्रकार से **"कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः"** = कर्मों का अध्यक्ष अन्तर्यामी, **"मनुष्ययोनि"** से गिर जाने के कर्म करने पर **"पशु-पक्षियों"** की योनि में डाल देता है।

६—**धोबी** के घर कपड़ा धुल कर साफ होता है पुनः लौट कर घर आ जाता है। इसी प्रकार परमात्मा मनुष्येंतर योनियों में भेज कर दुष्ट कर्मों के दागों को भोग द्वारा साफ़ कराकर पुनः मनुष्य शरीर में आने योग्य वना देता है।। **प्रतिज्ञा** को हेतु-उदाहरण द्वारा युक्ति प्रमाण से सिद्ध किया। **अक़लीदलाइल** के बाद - अब आप **"नकली दलाइल"** = वेद शास्त्र आदि के प्रमाण पढ़िये :—**यजुर्वेद, १९-४७,**

द्वेसृतीऽअशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

७—**अर्थ** :—इस संसार में पाप-पुण्य भोगने के लिये **दो** मार्ग है एक 'पितृ" = ज्ञानी विद्वानों का—दूसरा विज्ञान विद्या रहित मर्त्यों साधारण मनुष्यों का **एक** से "मोक्ष" हो जाता है और दूसरे से बार-बार जन्म-मरण के चक्र में आता है—इन दो मार्गों में सब संसार का चक्र घूम रहा है—और **"आवागमन"** हो रहा है। जन्म और मरण, मुक्ति और बन्धन—ये दो दशायें जीव की नियत हैं। अच्छे और बुरे, पुण्य और पाप, प्रकाश और अन्धकार, विद्या व अविद्या, धर्म और अधर्म इत्यादि किसी भी जोड़े को लें—दो रास्ते बन जाते हैं ॥

८—इसी की ताईद में **"कुरआन"** में दो रास्तों के लिये सूरः **"फातेह"** में कहा है।

"इहदि नस्सिरा तल मुस्तक़ीम-सिरातल्ल ज़ीन
अनअम्त अलैहिम-ग़ैरिल मग़ज़ूबे अलैहिम =

अर्थः—चला हमको राह सीधी, राह उनकी जिन पर तूने "नेमत" =सुखकी वर्षा की—नकि जिन पर ग़ज़ब=दुःख बर्साया। यही दो मार्ग है।

आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाच मनुदितां चिकेत ॥

अथर्व. ५।१।२

१० – अर्थः—जो जीव पूर्व जन्मों में जैसे धर्म के कार्यों को करता है. वह उनके फल से अनेक उत्तम शरीरों को जन्म जन्मान्तर में प्राप्त करता है, और अधमात्मा मनुष्य नीच पशु आदि के शरीर को धारण करता और भोगता है।

पुनर्मैं त्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयोधिष्रायो यथा स्थाम कल्पयन्तामि हैव ॥

अथर्ववेद ७।६७।१

अर्थः—भगवन्! आपकी कृपा से पुनर्जन्म में इन्द्रियें और मन हमको प्राप्त हों, और सत्य विद्यादि धन प्राप्त हों, और आप में निष्ठा हमारी बनी रहे और हम सब संसार के उपकारक अग्निहोत्र यज्ञ करें करते रहें।

इन्द्र ज्येष्ठंन आ भर ओजिष्ठं
पुपुरिश्रवः। यद् दिधृक्षेम वज्र
हस्त रोदसी उभे शुशिप्र प्रयाः॥

सामवेद ६।१।१

अर्थ :—हे इन्द्र=ऐश्वर्य शाली परमात्मन्! आप हमे श्रेष्ठ, ओज युक्त पूर्ण करने वाला ज्ञान भरपूर प्राप्त कराइये। हे ज्ञान रूपी वज्र को

धारण करने वाले, उत्तम ज्ञानी, बलशाली तथा व्यापक प्रभो ! हम जिस ज्ञान को धारण करने की इच्छा रखते हैं—उसे आप इस "लोक" तथा "परलोक" दोनों में प्राप्त कराइये ॥ इस जन्म तथा पुनर्जन्म ॥

अप्स्वग्ने सधिष्टवसौष धीरनु रुध्यसे । गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥

यजुः १२-३६,

अर्थ :—जो जीव शरीर को छोड़ते हैं—वे वायु तथा औषधियों द्वारा गर्भाशय को प्राप्त हो कर शरीर धारण कर पुनः जन्म लेते हैं ॥

असुर्या नामते लोका अन्धेन
तमसावृताः । ताँस्ते प्रेत्यापि
गच्छन्ति येके चात्महनोजनाः ॥

अर्थ :—"*येके च आत्महनो जनाः*" = जो मनुष्य अपनी आत्मा का हनन करते हैं—वे *प्रेत्य*" = मर कर । *तान् लोकान् गच्छन्ति* = उनलोकों=शरीरों को प्राप्त होते हैं ।

अन्धेन तमसा–आवृताः = अविद्या रूपी अन्धकार=अंधेरे से आच्छादित=ढके हुये हैं । (**के ते लोकाः ? = कौन वे लोक हैं ?**)

असुर्या नाम ते लोकाः = असुराणां प्राण पोषण तत्पराणाम्-अविद्यादि युक्ताना पाप कर्माणः—अर्थात् अपने प्राण पोषण में तत्पर अविद्यादि दोष युक्त लोकों के संबन्धी उनके पाप कर्म करनेवाले प्रसिद्ध लोकों को प्राप्त होते हैं ।

शंका :—वेद जीवात्मा को नित्य मानता है, तो "**आत्महनः**" क्यों कहा ?

उत्तर :—आत्मा के "*हनन*" का अर्थ है—आत्मा के शुभ संकल्पों को दुष्ट संकल्पों से दबा देना, प्रत्येक अशुभ कर्म करने के पूर्व "भीतर से भय, शोक, लज्जा प्राप्त होती है" परन्तु जो उसे हठात दबा

देते हैं-और बुरे कर्म कर डालते हैं—बस यही आत्मा की आवाज को दबा देने का नाम ही "आत्महनन" है ।

११—गोतमीय सूत्र तथा वात्स्यायन भाष्य' :—

"पुनरुत्पत्तिः प्रेत्य भावः"

१ । १ । १९ ॥

अर्थः—जो उत्पन्न होता—अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है—मृत्यु अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद पुनरुत्पत्तिः = पुनः उत्पन्न होना = शरीर धारण करना 'प्रेत्यभाव" है ।

"उत्पन्नस्य क्वचित् सत्व निकाये मृत्वा
या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्य भावः" ।

अर्थः- शरीर धारण किये जीव का शरीर से सम्बन्ध छूट जाना "प्रेत' कहाता है और जीव को पुनः शरीर मिल जाने का नाम "प्रेत्यभाव" है ॥

अत्राशंक्यतेः--प्रेत्य भावः = पुनरुत्पत्तिः = पुनः पुनर्भवनम्—सर्वकालस्थायिनि कूटस्थे-आत्मनि कथं पुनः पुनर्भवनम् भविष्यति ? परिणामादि कार्य्यान्तर शून्यत्वात् । एवञ्च शरीरस्यापि अत्रैवलयत्वात्-पुनः कथमुत्पत्तिः ? अतः प्रेत्य भावस्य न सिद्धिभवतुमर्हत्तिः । अर्थात् जीवात्मा नित्य है कूटस्थ है-अपरिवर्त्तनशील है-उसका जन्म मरण नहीं हो सकता-एवं शरीर भी यहाँ पर ही नष्ट हो जाता है । उसका भी 'प्रेत्य भाव" असम्भव है, अतः पुनर्जन्म का सिद्धांत ही अशुद्ध है ।

अत्रसमाधिः—"स्थायित्वेन क्रियाभ्यावृति सम्भवात्-तस्यैव पुनः पुनरुत्पत्ति ब्रूमः, उत्पत्तिवन्मरणमपि सोऽयमात्मन एव मृत्वा पुनर्जन्म "प्रेत्यभावः" इति, जयन्त भट्टः । न्यायमंजरीयाम् ।

अर्थ :—स्थाई = स्थिर वस्तु में क्रिया की आवृति=वार-वार होना पाया जाता है । अस्थाई में नहीं । इस नियम से "आत्मा" का ही प्रेत्यभाव होता है । शरीर का नहीं ॥

इसमें इतना विशेष स्मरणीय है कि जन्म मरण "आत्मा" के स्वरूप में नहीं माने गये—किन्तु "मरण मात्मनो भोगायतन देहेन्द्रि यादि वियोग उच्यते—जन्म तु तत्सम्बन्धः=सुख दुःख के साक्षात रूप भोग का अधिष्ठान जो ये देह इन्द्रिय आदि का संघात—उसके साथ आत्मा के वियोग का नाम "मरण" है तथा संयोग का नाम "जन्म" है—एव आत्मा के "पुनर्जन्म" में कोई दोष नहीं ॥

"सोऽयं दुःखादीनां मिथ्या ज्ञान पर्यन्तानां कार्य का रण भावोऽविच्छिन्नः संसार इति, आजरञ्जरी भाव इति चोच्यते"

न्याय वार्तिक-उद्योतकराचार्यः,

अर्थ :—सो यह मिथ्याज्ञान पर्यन्य दुःखादिकों का बीजांकुरवत् अनवरत = बराबर अनादि कार्य कारण रूप "संसार" ही प्रेत्यभाव कहलाता है। और इसको (प्रेत्यभाव) न्याय की परिभाषा में "आज-रञ्जरी भाव" कहते हैं ॥ न्याय वार्तिक।

प्रेत्यभाव, संसार, आजरञ्जरीभाव, पुनर्जन्म, आवागमन।

ये शब्द पर्याय=एकार्थवाची हैं ॥

१२–प्रेत्याहाराभ्यास कृतात्स्तन्याभिलाषात्।

न्यायदर्शन–३।१।२२

अर्थ :-- जन्म के होते ही "बालक" की स्तन पान में प्रवृत्ति पाये जाने से अनुमान होता है कि इसको दूध पीने की इच्छा है, क्योंकि इच्छा बिना प्रवृत्ति नहीं होती—इच्छा आहार=भोजन के अभ्यास से होती है। यदि पूर्वजन्म में "जीव" को खाने से पीने से क्षुधा निवृत्ति होती है-ऐसा अभ्यास न होता तो जन्मते ही दुग्धपान में प्रवृत्ति न होती—अतः यह अभ्यास आत्मा के नित्य होने तथा "पुनर्जन्म" का साधक है।

१३—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभय शोकसम्प्रतिपत्तेः ॥

न्याय. ३ । १ । १९

अर्थ :—सद्यजात बालक "हर्ष, भय, शोक" द्वारा कभी हँसता है कभी भयभीत होता है—कभी रोता है जिन दृश्यों के कारण—ये परिवर्त्तन होते हैं वे सब परिवर्त्तन के दृश्य तो इसे अभी प्राप्त हुये नहीं—और नहीं अभी उन्हें समझ सकता है। अतः इससे पूर्व संचित दृश्यों का अनुमान होता है। क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। उन संचित दृश्यों के लिये पूर्व शरीर चाहिये—जिनका यहाँ प्रदर्शन बालक कर रहा है-इससे जीव का नित्यत्व और दूसरा जन्म सिद्ध हो जाता है।

१४—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ॥

योग २-९ ॥

अर्थ : प्रत्येक प्राणधारी चाहता है कि मैं न मरूँ—मेरी मृत्यु न हो—मरने का बड़ा कष्ट अनुभव करता है। योगदर्शन में इस पाँचवें क्लेश का नाम "अभिनिवेश" है। यदि यह ईश्वरीय देन मानी जावे तब भी इसका हेतु बताना होगा। क्योंकि इच्छा चेतन में होती है परन्तु वे इच्छा ज्ञान के बाद पैदा होती है—अतः ज्ञानपूर्वक इच्छा स्मृति का विषय है और स्मृति पूर्व अनुभव चाहती है। अतएव "अभिनिवेश" की "जिहासा" क्या मूर्ख क्या विद्वान्—पशु-पक्षी-कीट, पतंग सबमें समान पाई जाती है। बिना पूर्वजन्म माने अनुभव हो नहीं सकता—अतः यह जन्म पहिले जन्म का साधक है—उस पहिले की सिद्धि से यह दूसरा=पुनर्जन्म हो गया ॥

१५—ऋग्वेद मण्डल-१-सूक्त १६४, मन्त्र ३० ।

अनच्छये तुरगातु जीव मेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिर मर्त्यो मर्त्येना स योनिः ॥

अर्थ :—*जीव*=जीवात्मा। *पस्त्यानां मध्ये*=गृहों=शरीरों के बीच।

ध्रुवम्=अपरिणामो नित्य स्थिर। *जीवम्-तुरगातु*=प्राण धारक *तूर्णं*=शीघ्र गति वाला। *एजत्*=दीप्ति संचलन, क्रियावान्। *अनत्*=प्राण देता हुआ। *शये*=व्याप रहा है। *जीवः*=जीवात्मा। *मृतस्य*=मरने वाले-जड़ शरीर में। *स्वधाभिः*=अपने आप को धारण करने वाली शक्तियों या अन्नों के द्वारा। *चरति*=भोग करता है और विचरता है। *अमर्त्यः*=मरण धर्मा शरीर से भिन्न होता हुआ भी। *मर्त्येन*=मरने वाले शरीर के साथ। *सयोनिः*=एक साथ मिल कर रहता है॥ इससे जीव का *नित्य* होना तथा *ज्ञानवान्* होना—तथा "*स्वधाभि*" अपने कर्मों का भोग जड़ शरीर के साथ मिलकर करना सिद्ध होता है।

अपाङ् प्राङेति स्वधया,
गृभीतो मर्त्यो मर्त्यन सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूची ना वियन्ता,
न्य न्यं चिक्युर्न निचिक्युरुन्यम्॥

ऋ०।

अर्थ :—*स्वधयागृभीता*=अन्न और जल से बने शरीर तथा अपने किये कर्मों के फल से गृभीता=बँधा हुआ। *अपाङ्-प्राङ्ऐति*=अच्छे कर्मों के न करने से नीच योनियों को तथा शुभ कर्मों के भोग के लिये ऊँची योनियों को प्राप्त होता है। *अमर्त्यः*=यह अविनाशी आत्मा। *मर्त्येन*=मरणधर्मा शरीर के साथ मिलकर। *सयोनिः*=एक साथ रहता है। *ता*=आत्मा और मनोमय सूक्ष्म शरीर *शश्वन्ता*=परस्पर सदा साथ रहने वाले। *विसूचीना*=सभी लोकों में साथ ही जाने वाले। *वियन्त*=विविध लोकों को प्राप्त होते हैं। सर्व-साधारण "*अन्यम्*"=उनमें से एक को-"*निचिक्युः*"=भलि प्रकार जान लेते हैं (अर्थात् शरीर को)। परन्तु अपनी अविद्या के कारण-"*अन्यम्*" उनमें से दूसरे आत्मा को। न *चिक्युः*=नहीं जान पाते॥ इस मन्त्र से भले प्रकार। ऋग्वेद १। १६४। ३८

विस्पष्टीकरण हो गया कि जीव अपने कर्मों द्वारा पकड़ा हुआ— या यूँ कहो कि इस जन्म में नाना-प्रकार की इच्छाओं को कुछ यहाँ भोगता है जो शेष बच जाती हैं उन्हें अगले जन्म में भोगता है। यही पुनर्जन्म का असली रूप है ॥

पृथक् प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽ, कृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नाव मारुह, मीमैर्व तेन्यविशन्त केपयः ॥

अर्थः—हे जीवात्मन् ! "*दुष्टरा-श्रवस्यानि-अकृण्वत*" = जिन पुरुषों ने दुस्तर अर्थात् दूसरों से दुरनुकरणीय=कष्ट साध्य यश प्रसारक कर्म किये हैं। "*देवहूतयः प्रथमाः प्रायन्*" = वे दिव्यगुणी पुरुष-निकृष्ट जनों से भिन्न उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं। "*ये यज्ञियां नावं आरोढुं न शेकुः*" = तथा जो श्रेष्ठतम् = पवित्र नौका में-धर्म कर्म रूपी नाव में बैठने के योग्य नहीं हो सके। "*ते के पयः ईर्मा एव न्यविशन्त*" = वे पाप कर्मी जन ऋषि ऋण पितृ ऋण आदि ऋणों में आबद्ध होकर नाना प्रकार की नीच योनियों को प्राप्त होते रहते हैं।

१०-४४-६ ऋग्वेद।

छान्दोग्य उपनिषद् में इसी की छाया है :—

"अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्
ते कपूयां योनिमापद्येरन्, श्वा योनिं
वा सूकर योनिं वां चण्डाल योनिं वा"

अर्थः—*अथ ये* = जीवाः = और जो जीव, *इह* = अस्मिन् लोके = इस संसार में। "*कपूयचरणाः*" = कपूयम् -अशोभनं, चरणम् = शीलं येषां ते कपूयचरणाः = निन्दित है आचरणशील स्वभाव जिनका— "*तेह अभ्याशः*" = क्षिप्रमेव = वे शीघ्र ही *कपूयाम्* = अशोभनां योनि-मापद्येरन् = लभेरन् = अशोभन् = दुष्ट योनियों को प्राप्त होते हैं वे कौन-कौन-सी योनि हैं उन्हें बताते हैं—*श्वयोनिम्* = सारमेय योनिम् =

कुत्तेकी योनि को प्राप्त करते हैं। शूकर *योनि वा* = सूअर की योनि को प्राप्त करता है। *चण्डाल* योनि को प्राप्त होते है।

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात।
चक्षुष्मते शृण्वते तेब्रवीमि मानः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥

ऋग्वेद-१०।१८।१।

अर्थ :—"*मृत्यो! परं अनुपन्थां परेहि*" = हे मृत्यु! तू हमें पितृयाम के उत्कृष्ट अनुकूल मार्ग की ओर ले जा। "*याते देव यानात् स्वः*" = जो कि तेरा देवयान से दूसरा अपना है। "*चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि*" = हे मृत्यु देखने वाले और सुनने वाले मैं तुझसे कहता हूँ। "*नःप्रजां मा रीरिषः*" = तू हमारी सन्तानों को "जायस्व म्रियस्व" मार्ग की ओर ले जा कर मत नष्ट कर "*उत मा वीरान्*" = एवं रीत्या हमारे अन्य वीरों को—मत नष्ट कर॥ अत्र छन्दोगा :—वदन्ति :—

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्य सकृ-दावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वे त्येतत्तृतीयं स्थानं ते नासौ लोको न संपूयते तस्माज्जु गुप्सेत

तदेष श्लोक॥ छान्दोग्य ५-१०-८॥

अर्थ :—"*अथएतयोः पथोः कतरेणचन*" = और इन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग से भी—"न" = नहीं जाते। "*तानि-इमानि*" = वे ये अज्ञानी। "*क्षुद्राणि*" = अत्यन्त लघु। "*असकृ दावर्त्तीनि*" = पुनः-पुनः बारंबार आवर्त्तन शील—अर्थात् शीघ्र-शीघ्र मरने जीने वाले। "भूतानि" = प्राणी जीव। "भवन्ति" = होते हैं। इसी मार्ग का नाम—"जायस्व-म्रियस्व" = अर्थात् "*जियो-मरो*" "*एतत् तृतीयं स्थानम्*" = *यह तृतीय मार्ग है*। "*तेन—असौ + लोकः—न सम्पूर्यते*" = इस कारण यह लोक नहीं पूर्ण होता। "*तस्मात्-जुगुप्सेत*" = इस कारण इसे निन्दित समझे—इससे घृणा करे। "*तत्-एषः श्लोका*" = उस विषय में यह श्लोक प्रमाण है॥

स्पष्टीकरण :—मृत्युः = *मारयतीति मृत्युः* । मृङ–प्राणत्यागे धातु से औणादिक "त्युक" प्रत्येय से मृत्युः शब्द सिद्ध होता है । अर्थात् प्राण त्यागानुकूलो व्यापार :— मृत्युः ॥ प्राणों के वियोग का नाम ही मृत्यु है ।

शतबलाक्षो मौद्गल्यः = जिसकी आँखों में बड़ा बल है—अर्थात् "तत्वदर्शी" है । ऐसा ऋषि मौद्गल्प कहता है कि "मृतं च्यावयतीति–मृत + च्यु = मृत्युः" = जो मृतप्राणी को अन्य किसी योनि में ले जाता है अर्थात् इसके बाद प्राणी जन्मान्तर में जाता है ।

विशेष ज्ञातव्य—-श्रेय और "प्रेय" दो मार्ग हैं–जिनके प्राप्त करने के लिये "*देवयान*" और *पितृयान* हैं ।

ब्राह्म विद्यासेवी प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों का परिशोधन करके "*यम नियमों*" द्वारा अष्टांग योग की सिद्धि करके "*देवयान*" का अधिकारी बनता है ।

शिवस्वेरादय :—

चन्द्र सूर्य समभ्यासं ये कुर्वन्ति सदा नराः ।
अतीतानागतज्ञानं तेषां हस्तगतं भवेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ :—जो योगी जन सतत "इडा" और "पिंगला" के स्वरों का यथायोग्य अभ्यास करते हैं—वे भूत भविष्यत् के ज्ञाता होजाते हैं ।

इसकी रीति :—

कुम्भयेत्सहजं वायुं यथाशक्ति प्रकल्पयेत् ।
रेचयेच्चन्द्र मार्गेण सूर्येणा पूरयेत्सुधीः ॥३७९॥

अर्थ :—कुम्भक प्राणायाम द्वारा भीतर से आनेवाली प्राण वायु को यथाशक्ति रोके रहे—जब न रुक सके तो दाहिने नासिका छिद्र को बन्द करके "चन्द्रनाड़ी" = बायें नासिका छिद्र से निकाल दें । पुनः बायें को बन्द करके "सूर्यनाडी"=दाहिने नासिका रन्ध्र से पूरक प्राणायाम से अन्दर की ओर खींचे–जब न खिंच सके तो रोक दे—बाहिर न

निकलने पाये–यथा शक्ति रोकने के बाद दूसरे छिद्र से निकाल दे—एवं प्रातः सायं ४-४ बार न्यून से न्यून—७ से अधिक नहीं—केवल रेचक–कुम्भक का समय बढ़ाने का उद्योग करे—अर्थात् १ मिनट यदि "पूरक" होता है तो १।-१।।-२ मिनट तक बढ़ाना चाहिये।

गीता—

स्पर्शान्कृत्वाबहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।। ५-२७।।

अर्थः—बाह्यस्पर्शों को बाहिर कर–दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापन कर–प्राण अपान दोनों को कुम्भक से नासा के द्वारा भीतर पहुँचा दे। अर्थात् कुम्भक-रेचक प्राणायाम करे—इससे इन्द्रियों के दोष नष्ट होते हैं।

यतेन्द्रिय मनो बुद्धि मुंनिर्मोक्ष परायणः।।
विगतेच्छा भय क्रोधोः यः सदामुक्त एव सः।।

अर्थः—नियमित मन बुद्धि और इन्द्रिय वाले पुरुष मौनी होकर इच्छा भय और क्रोध से रहित हैं—उन्हें सदा मुक्त जानो।।

ये **"श्रेय"**मार्गी मुनि सिद्ध पुरुष **"देवयान"**से ब्रह्मलोक में परमानन्द का भोग करते हैं, स्वच्छन्द स्वतन्त्र हैं–जिस लोक में चाहे जा सकते हैं।।

दूसरा-प्रेयमार्ग है। इसके दो भेद हैं—एक **"पितृयान"** जिसमें धर्मशाला—तड़ाग, कूप वाटिका आदि में प्राणीमात्र का उपकार है। पशुपक्षी मनुष्य जिससे लाभ उठायें उसे **"आपूर्त्त"** कर्म कहते हैं। **आपूर्त्तम्** =*पूरणम्। आपूर्यन्ते समन्तादभ्रियन्ते पोष्यन्ते द्विपदश्च तुष्पदाः सर्वे जीवा येन तदापूर्त्तम्।।* **इष्टम्** =*इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा-ईश्वर मातृ पितृ बुधगण प्रभृतयो येन कर्मणा। इज्यन्ते विविध होमीय द्रव्याणि दीयन्ते अक्षिप्यन्ते येन च। तदिष्टम्—यजनम्—अग्निष्टोमादि वैदिकं कर्म।।* **अर्थात्**–ईश्वर माता पिता विद्वज्जन आदिकों का जिस कर्म के द्वारा सत्कार हो—तथा विविध होमीय द्रव्य अग्नि में जिस कर्म द्वारा होमें जाये उसे *इष्ट, याग, यजन, यज्ञ, अध्वर, अग्निष्टो-*

आदि वैदिक कर्म कहते हैं ॥ इन कर्मों को करने वाले दानी पुरुष "पितृयान" द्वारा "पितृलोक" को जाते हैं।

टिप्पणीः—पितृ=पातिरक्षतीति—पा+तृच। जनके। लोक=लोकृ दर्शने, लोक्यते—असौलोकः। मरणोपरान्त पितरलोग–पितृलोक को अर्थात् जहाँ भावी माता पिता उपस्थित हैं वहाँ जाते हैं। क्योंकि "पितृलोक" का धात्वर्थ है–जहां माता पिता का साक्षात्कार हो, यहाँ भी ये माता पिता बनने के फेर में रहते थे–और संसार के कुटुम्बी पारिवारिक रिश्तो सम्बन्धो को जोड़ते रहते थे। यहीं संस्कार लेकर मरे अतः उन्हीं रिश्तों=सम्बन्धों में जाकर फँस गये। यहाँ पिता थे। वहाँ पुत्र बन गये। पुनः विवाह होगा–पुनः बाप=पिता बन जायेंगे – यही जन्म मरण का प्रवाह है ॥

इस "पितृयान" में एक सुभीता है कि जन्म प्राप्त होने पर "जीवेम शरदः शतं० भूयश्च शरदः शतात् ॥" १०० वर्ष तक जियो इससे अधिक भी जियो—वेद कहता है। इस लम्बे समय में हम 'देवयान' की तैयारी कर सकते हैं। देव=ब्रह्म। यान=पथ अर्थात् ब्रह्म पथ के यात्री बन सकते हैं।

पितरों का चन्द्रलोक है अर्थात् चदि–आह्लादे धातु से चन्द्र शब्द बनता है—अर्थात् जिससे सुख प्रसन्नता प्रतीत हो-गृहस्थ में सन्तान को पाकर धनधान्य सम्पन्न होकर बहुत सुखी रहता है दान पुण्य करता हुआ यश और कीर्ति का भागी बनता रंक से राजा बन जाता है–सुख सम्पत्ती का पारावार नहीं—यह १००-२०० वर्ष तक भी ऐसा रहने पर-इसका अन्त अवश्य है क्योंकि चन्द्रमा की "अमावस्या" अर्थात् "मृत्यु" का अन्धकार और ९ महीने मल-मूत्र की नालियों के बीच में उलटा टगें रहना, हाथ जोड़कर ईश्वर से कहना कि हे परमात्मन !

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नाना योनि सहस्राणि मया यान्युषितानिवै ॥

आहारा विविधाः भुक्ताः पीता नाना विधास्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥
अवाङ् मुखः पीड्यमानो जन्तु श्चैव समन्वितः ।
सांख्यं योगं समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥

अर्थ—मैं मरा और पुनः उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हुआ और पुनः मरा। एवं मैंने नाना प्रकार की सहस्रों योनियों में निवास किया—वहाँ मैंने अनेक प्रकार के भोजन खाये। नाना प्रकार के स्तन पान किये—अनेक मातायें देखीं। और अनेक पिता तथा मित्र देखे। और अब मैं मातृ गर्भ में संयुक्त हुआ तथा **"नीचे मुख"** करके पड़ा हुआ मैं जीव पीड़ित हो रहा हूँ। मुझे इस पिंजरे से शीघ्र निकाल- कि मैं सांख्य योग का अभ्यास करूँ। अथवा पच्चीसवें पुरुष तत्व का ध्यान करूँ॥ परन्तु

"ततश्च दशमे मासे प्रजापते। जातश्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति जन्म मरणे, अन्ते च शुभाशुभ कर्म।"

अर्थ:—जब यह दश महीने में गर्भ से बाहर आता है— तो उत्पन्न होते वायु स्पर्श से सब भूल जाता है— जन्म मरण शभाशुभ कर्म। इस प्रकार प्रत्येक सुख-दुःख मिश्रित है—अतः यह दक्षिण मार्ग है—अर्थात् जैसे सूर्य दक्षणायिन रहता है—रात्री बड़ी हो जाती हैं दिन छोटे हो जाते हैं—ऐसे ही जीवन में दुःख है-सुख हैं वे भी दुःख मिश्रित है। मनुष्य, पशु योनि में दुःख बहुल=प्रचुर है। रात्रि बड़ी होने से अन्धकार अधिक है- दिन छोटा है—प्रकाश न्यून है—यही है **"पितृयान"**। इससे बार-बार जन्म मरण होता है। **परन्तु** लम्बा जीवन होने के कारण **"देवयान"** की तय्यारी कर सकता है॥

एक तीसरा मार्ग—और है उसे **"जायस्व, म्रियस्व"** मार्ग कहते हैं—यही **"प्रेयमार्ग"** का दूसरा भेद है। यह उभय भ्रष्ट मार्ग जीव—क्षुद्रयोनिज देश, मशक, कीट, पतंग आदि-आदि शीघ्र-शीघ्र

जीने और मरने वाले दुःखार्णव में पतितों का जीने मरने ही में कालयापन होता रहता है, विशेष भोग या शोभन क्रिया का उन्हें समय ही नहीं मिलता। इन योनियों का ज्ञान वर्षा ऋतु में राज मार्ग पर लगे जलते हुए रात्रि में बिजली बत्तियों पर देखिये। ये घोर निन्दित कर्म करने वाले—जिनको आगे कहा है। ते अधस्तात् लिख्यन्ते :—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महाचैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाऽऽचरं स्तैरिति ॥

छान्दोग्य ५-१०-९।

अर्थ :—*सुवर्णस्तेयी* = सोने की चोरी करने वाला, *सुरापायी* = मादक द्रव्य–सुरा पीने वाला।

मनु :—*गौड़ी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधासुरा।*
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥

११-९४॥

अर्थ :—*गौड़ी*=गुड़ से बनी, *पैष्टी*=अन्न से बनी, *माध्वी*=मधु, खजूर, द्राक्षा ताड़, ताड़ी आदि से बनी—सुरायें तीन प्रकार की होती हैं। जैसे एक–ऐसे ही सब हैं—आर्य = श्रेष्ठ पुरुषों को सर्वथा वर्जित हैं।

गुरुतल्पगामी=गुरुपत्न्या सहवासी=गुरु आचार्य की पत्नी के साथ सहवास करने वाला। ब्रह्महा = वेदवेत्ता—ब्रह्मज्ञानियों को हनन करने वाला। ये चारों तथा इनका साथ देनेवाला—ये पाँचो (पतन्ति) पतित हो जाते हैं।

अत्र मनुरब्रवीत् :—

ब्रह्महत्या-सुरापान, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातका न्याहुः संसर्गश्चापि तैः सहः॥

११-५४॥

अर्थ :—ब्रह्म हत्या—सुरापान, चोरी, गुरुतल्पगमन, और पाँचवां इनके साथ संसर्ग रखने वाला। ये सब महापातकी हैं।

वेद में इन तीनों मार्गों का उपदेश ऋग्वेद १०-१४-१ में "प्रवतः" शब्द से किया है, यास्काचार्य-प्र-उत्=नि, उपसर्गत्रय से "प्रवतः" का निर्वचन गत्यर्थ "अव" धातु से करते हैं। यथा— "देवयान" उद्वत्=उत्कृष्ट गतिशील पुरुषों का मार्ग है। एवं "पितृयान" "प्रवत्"=प्रकृष्ट गति शील पुरुषों का मार्ग है। तीसरी गतिवालों का "निवत्" निकृष्ट गतिशील जीवों का "जायस्व" "म्रियस्व" मार्ग है। इस प्रकार उपनिषद और वेद की संगति = अनुकूलता है॥

"गुरु नानक देव जीत था पुनर्जन्म"

आपे बीच आपे हीखा, नानक हुकमी आवे जा, ॥

अर्थ :—मनुष्य स्वयं ही कर्म का बीज बोता है—और स्वयं ही उसका फल खाता है। ईश्वर की आज्ञानुसार जाता आता है। अर्थात् जन्म धारण करता रहता है। "जपजो" पुस्तक में है॥

जेवड्डा आप जाने आप-आप। नानक नज़रीं कर्मी दात ॥

जयजी॥

अर्थ :-परमात्म अपनी महिमा का स्वयं ही ज्ञान रखता है (दूसरा कोई नहीं जानता) परन्तु नानक इतना जानता है कि उसका न्याय और दया कर्मों पर होता है

जिन हर-हर नाम न चेत्यो। सो औगुण आवे जाये ॥

"राग सिरी महल्ला पहला"

अर्थ :—जो परमात्मा का स्मरण नहीं करते वे पापी अवश्य जन्म मरण को प्राप्त होते रहते हैं॥

आवागवन मिटे गुर सब्दें। आपे करते बख्श लिया ॥

सिद्ध गोष्ट

अर्थ :—ओम् जो गुर परमेश्वर का शब्द है उसकी धारना से मनुष्य "आवागमन" के बन्धन से छूट जाता है॥

"कबीर जी की वाणी"

लख चौरासी धार में तहाँ जीव दिया वास।
चौदा यम रखवार व चारवेद विश्वास ॥

अर्थः—चौरासी लाख की धार में जीव का वास है। चौदः यम की रक्षा में और चारो वेदों पर विश्वास करने से इस (जीव) का कल्याण हो सकता है॥

आप-आप सुख सब रमे एक अण्ड के माँहि।
उत्पत्ति-प्रलय दुःख-सुख फिर आवें फिर जाये॥

अर्थः—सब जीव अपने-अपने सुख में मस्त हैं—इस विश्व-ब्रह्माण्ड में उत्पत्ति के बाद प्रलय और प्रलय के बाद उत्पत्ति—यही "आवागमन" है—ऐसे ही सुख-दुःख का चक्कर जीवों के साथ जीना और मरना लगा हुआ है॥

घर-घर हम सर्व सांकही शब्द न सुनो हमार।
ते भवसागर डूबे हैं लखचौरासी धार॥

अर्थः—घर-घर ज कर हमने सब लोगों को उपदेश दिया—परन्तु लोगों ने हमारी बात नहीं मानी। अतः वे लोग संसार सागर की चौरासी लाख धाराओं में डूबते और उतराते रहेंगे।

गुरु विरोधी और मन लखी नारी पुरुष विचार।
ते नर चौरासी फिरेहैं जबतक शशि दिनकार।।

अर्थः—गुरु से विरोध करने वाला—अर्थात् धोखा देने वाला। मन के पीछे चलने वाला, तथा पर-स्त्री पर पुरुष से मन लगानेवाला जबतक चाँद सूर्य हैं ८४ लाख के चक्र में घूमता रहेगा॥

लख चौरासी योनि जीव यह भटके भटक दुःख पाये।
कह कबीर जो रामा जाने तो मोहे नेको भाये॥

अर्थः—८४ लाख योनियों में जो जीव भटकते रहते हैं उनमें से जो राम=

रमन्ते योगिनो यस्मिन् सः रामः

अर्थात् योगियों के रमण करने वाले ईश्वर को जो भजता है वह मुझ (कबीर) को अच्छा लगता है ॥ **आगे देखो कठवल्ली :—**

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतमा ॥
योनि मन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणु मन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम् ॥

अर्थ :—हे गौतम ! मैं तुम पर वह सनातन और दिव्य रहस्य प्रकट करूँगा—कि मरने पर आत्मा कहाँ जाता है ? कुछ आत्मायें अपने कर्म और ज्ञानानुसार दूसरे शरीर धारण कर लेते हैं । और कुछ वनस्पतियों में चली जाती हैं ॥ ५ । ६-७ ॥

पारसी :—महर्षि व्यास के समय एक स्थान "**बलख़**" है जिसे "**बलखबुखारा**" भी कहते हैं वहाँ "**ज़रदुश्त**" नामा 'पैगम्बर" हुये हैं । उन्होंने "**पारसी**" सम्प्रदाय चलाया—और अपनी धर्म पुस्तक का नाम "**ज़न्दावस्ता**" रक्खा है । ये लोग वैदिक धर्म से अत्यधिक समीप हैं । **यथाः**—चारवर्ण मानना, ज़ुन्नार अर्थात् यज्ञोपवीत, धारण करना, गाय की रक्षा करना, मांस खाना पाप समझना, अग्निहोत्र करना ईश्वरास्तित्व मानते हैं, आत्माओं को अनादि मानते हैं, आवगमन को मानते हैं ॥

इनका पैगम्बर "**सासान प्रथम**" अपने नामा की आयत १९ में कहता है:—

"रवाँ अज़ तने व तने रविन्द अस्त"

अर्थ:—जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला है ।

"जाइज़ अस्त कि यके क़ब्ल
अज़ दीगरे मौजूद बाशद

अज़ नीजास्त कि हुक्माशुफ़्ता अन्द
कि वुजूद नफ़्स क़ब्ल् अज़बदन
वाजिब ख़ाहिद बूद. न ईंके बदन
शरत् ओ बाशंद", =

अर्थः—न्याय संगत है कि एक-दूसरे से पूर्व विद्यमान हो, यही कारण है कि "विद्वानों" ने जीव का शरीर से पूर्व विद्यमान होना स्वीकार किया है। न कि शरीर का जीव से पहिले होना। अर्थात् शरीर से जीव उत्पन्न नहीं हुआ—अपितु शरीर से पूर्व—अनुत्पन्न-नित्य जीव विद्यमान था।

सासान पञ्चम् :—

इं किस्मत दर इस्लाह तनासुख
"फरहंगसार" नामनिद वतनासुख
इबारत अस्त अज़ दर आमदन रूह
अज़क़ालबद बकालबद दीगर
बर आन ज़मान, इं रा "गरददनः"
"नाम निद"—

अर्थः—पुनर्जन्म की परिभाषा में इसे "फरहंगसार" कहते हैं। पुनर्जन्म से अभिप्राय है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में आना कुछ समय के लिये। इसको (पारसी) "गरद्दनः" अथवा "आवागमन" कहते हैं।

"बौद्ध लोग"

बुद्ध इज़्म :—यह संप्रदाय ईसामसीः से ७०० वर्ष के लगभग पहिले "आर्यावर्त्त देश" में प्रचलित हुआ. इसके कर्त्ता धर्त्ता "साखीसिंह गोतमबुद्ध" यह जाति के "राजपूत" थे। इस जाति के चिन्ह अफ़रीका, एशिया, योरुप अमेरिका आदि में भी उपलब्ध होते हैं। उस समय इस संम्प्रदाय का—चीन जापान ब्रह्मा, स्याम, अनाम, तिब्बत, लङ्का, चीनी तातार आदि स्थानों में अति प्रचार था।

लगभग "७० करोड़" मनुष्य इस संप्रदाय के भक्त थे। अब लोग "कैमनिष्ट" होते जाते हैं। परन्तु अब भी इनकी संख्या ७०-८० करोड़ से कम नहीं है। इस "बौद्धमत" का सिद्धान्त है कि "कर्म" के कारण बार-बार जन्म लेना पड़ता है। जिसको जीवात्मा कहते हैं-वह कोश (पञ्च कोश) में नहीं—किन्तु पाँच "स्कंधो' में रहता है।

पाँच स्कन्ध :—१–रूप स्कन्ध। २–विज्ञान स्कन्ध। ३–वेदना स्कन्ध। ४–संज्ञा स्कन्ध। ५–सस्कार स्कन्ध॥ मृत्यु के समय ये सब स्कन्ध नष्ट हो जाते हैं॥ अर्थात् "निर्वाण' प्राप्त करने पर "आवागमन' छूट जाता है।

बौद्ध लोगों का सिद्धान्त यह है कि आवागमन छूटने के लिये "निर्वाण" प्राप्त करना चाहिये परन्तु इनके यहाँ "निर्वाण" का अर्थ है शून्य अर्थात् अनादिकाल से फसा हुआ जीव पुनर्जन्म से बन्धन के बिना "निर्वाण"=विनाश, शून्य के छूट नहीं सकता॥

वैदिक धर्म में "मोक्ष" परमानन्द की प्राप्ति को कहते हैं। परन्तु ये लोग–शून्य को मुक्ति मानते हैं॥

अर्थात्—वेद का "आवागमन" मोक्ष से छूठता है। परन्तु बुद्धों का "आवागमन" निर्वाण अर्थात् 'शून्य"=समाप्त होने पर छूटता है।

ईसाई :— तब भूतग्रस्त मनुष्य कबरस्थान में से निकल उससे आ मिले जो यहाँ लो अतिप्रचण्ड थे कि उस मार्ग से कोई नहीं जा सकता था–और देखो उन्होंने चिल्लाकर कहा, कि हे यिशु ईश्वर के पुत्र! आपको हमसे क्या काम-क्या आप समय के आगे हमें पीड़ा देने को यहाँ आये हैं--सो भूतों ने उससे विनती कर कहा--जो आप हमको निकालते हैं तो "सूअरों" के झुण्ड में बैठने दीजिये, उसने उनसे कहा जाओ और वे निकल के "सुअरों" के झुण्ड में बैठं, और देखो "सूअरों' का सारा झुण्ड कड़ाड़े पर से समुद्र में दौड़ गया और पानी में डूब मरा। इंजील-मत्ती-२८ से ३३। पहिले मनुष्य थे—तब मरे क़बर में

गाड़े गये तब भूत बने—तब हज़रत मसीह ने "सुअर" बना दिया—और डूबकर मर गये—पुनः किसी योनि को प्राप्त हुए। यद्यपि यह "मत्ती" की गप्पे हैं तथापि "आवागमन" है ॥

कुरआने मजीद और फुरक़ाने हमीद :—

श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज ने वेदानुकूल शास्त्र-सम्मत तथा सृष्टि के प्रत्यक्ष नियमों द्वारा "आवागमन" = पुनर्जन्म माना है, इसी प्रकार से मुसलमान साहेबान की मानी हुई "मतन" की किताब से "आवागमन" अर्थात् पुनर्जन्म दिखलाया जायेगा—

"कैफ़ तकफ़ुरुन बिल्लाहि व कुन्तुम् अम्वातन् फ़ अह्याकुम् सुम्म युमीतुकुम् सुम्म योही कुम् सुम्म अलैहि तुर्जऊन"

सूरतुलबक़रः, २

अर्थ :—तुम किस तरह मुनकिर हो अल्लाह से और थे तुम मुर्दे, फिर उसने तुमको जिलाया, फिर तुमको मारता है, फिर जिलायेगा, फिर उसी पास उलटे जाओगे ॥

इस आइत कुरआनी में साफ़-साफ़ कहा है कि हर दो मौतों में एक ज़िंदगी है और हर दो जिंदगियों में एक मौत है।

इसमें इसलामी मौलाना लोग अक्सर शास्त्रार्थ के समय इस मौजूदः ज़िन्दगी की मौत के बाद वाली जिन्दगी "नरसिंगा" फूके जाने के बाद "कब्रों" से मुर्दे उठेंगे-उस जिन्दगी को बताते हैं। परन्तु यह मुर्दे उठने वाला मज़मून खतम हो गया—इसको कोई बुद्धिमान स्वीकार नहीं करता—"कुरान-सू० बक़रः-सू० आले इम्रान"।

"वल्लाहो सरी ऊल-हिसाबे" बक़रः, २

"फइन्नल्लाह सरी उलहिसाबे" आले इम्रान, ३

अर्थ :—और अल्लाह जल्द लेता है हिसाब, (शीघ्र लेखा करने वाला) कहा गया है।

जिसका अर्थ यह है कि उसका लेखा प्रतिक्षण चालू है ॥ इस पर नीचे पढ़िये मौलवी "मुहम्मद अली" के इन्गलिश कुरान की "भूमिका" वह कहते हैं :—It is a law that works every moment and will not come into operation on a particular day (भू॰पृष्ठ L VIII)

अर्थ :—यह एक नियम है जो हर क्षण कार्य करता है, और यह नहीं कि यह किसी विशेष दिन पर चालू होगा ॥

आगे वह लिखते हैं:—Hence God is called "Quick in reckoning" repeatedly (2-220-3-18, 198 etc) medning that his reckoning is working every moment" (भू॰ पृष्ठ L VIII)

अर्थ—इसीलिये अल्लाः को "सरीउल हिसावे" शीघ्र लेखा करने वाला कहा गया है। जिसका अर्थ यह है कि उसका लेखा प्रतिक्षण चालू है।

"कर्म फल देने का प्रकार"

इसके उत्तर में लिखते हैं:—"Every evil deed leaves its impress on the human mind' Nay rather what they do has become rust upon their heart (83:14) So that the consequence follows as soon as a deed is done. (भू॰ पृष्ठ॰ L VIII)

अर्थ :—प्रत्येक बुरा कर्म मनुष्य के मन पर अपनी छाप छोड़ जाता है। नहीं-नहीं अपितु जो कुछ वे करते हैं उसका "ज़ंग"=मोर्चा उनके हृदय पर हो गया है। (८३ । १४ ।) यहाँ तक कि ज्योंही कोई कर्म किया जाता है त्योंही उसका फल उसका पीछा करता है।

कुरआन–अलततफ़ीफ़–८३ में फ़रमाया है कि कर्म (फल) करने के बाद अपना असर छोड़ जाता है।

"कल्ला वल्रॉना अला क़ुलूबेहिम्मा कानू यक्सेबून"

अर्थात् जो कुछ वे कमाते = कर्म करते हैं उसका जगार=निशान-असर उनके "कुलूब" = दिलों पर जम जाता है ।।

स्पष्टीकरण :—कर्म का संस्कार अन्तः करण में रहता है—और अनेक जन्मों में उसका भोग होता है, जब तक ईश्वर के दर्शन करके "मोक्ष" नहीं प्राप्त कर लेता ।।

"मौत" और "क़ियामत" यह दो शब्द हैं मौत = मरना—अर्थात् शरीर से अलग होना, और *क़ियामत* = काइम होना—अर्थात् पुनः जीवका शरीर को धारण करना । *इसी को जन्म* कहते हैं ।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परमात्मा ने पहिली मौत से जो ज़िन्दगी दी, वह तो १०० या १५० वर्ष में समाप्त कर दी–दूसरी ज़िन्दगी देने के लिये एक अर्ब से अधिक का समय रक्खा गया—यह ठीक नहीं बैठता । क़ुरान ने इसका उत्तर बड़े सुन्दर शब्दों में सू० आले इम्रान-आ० २६ में दिया है :—

तूले जुल्लैल फ़िन्नहारि व तूले जुन्नहार
फ़िल्लैलि व तुख्रे, जुल् हय्य मिनल् मय्यति
व तुख्रे, जुल् मय्यत मिनल् हय्यि,

अर्थ :—तूले आवे रात को दिन में, और तूले आवे दिन को रात में, अर्थात् वह परमात्मा रात के बाद दिन और दिन के बाद रात पैदा करता है।

और तू निकाले "जीता" मुर्दे से, और तू निकाले "मुर्दा" जीते से । सू० बक़र: में —

वकुन्तुं अमवातन आयत २८ से प्रकट किया है कि मौत से ज़िन्दगी मिलती है और आगे भी मौत से ज़िन्दगी देने का इरशाद फरमाया है—यह "ला" = कानून हो गया— अतः इस नियम को पीछे की ओर लौटाकर देखिये—मौत से पूर्व ज़िन्दगी = जन्म था–और जन्म से पूर्व मौत थी, यह सिलसिला चूँकि परमात्मा के हाथ में है । और वह अज़ली = अनादि है, अतः उसके गुण कर्म स्वभाव भी अज़ली है–

अतः यह जन्म मरण हमेशा से चला आ रहा है। इसको एक ही बार मानना-"सृष्टिक्रम" के विरुद्ध है। कुरआन ने इस मसले को आम-फ़हम = साधारण मनुष्यों को समझ में आ जावे-इस "असूल" को समझाने के लिये एक "मिसाल" = उदाहरण अपनी बनाई हुई सृष्टि का दिया है। अर्थात् जिस प्रकार रात के बाद दिन और दिन के बाद रात आती है। अर्थात् हर दो रातों में एक दिन रहता है और हर दो दिनों में एक रात रहती है—ऐसे ही इसी आइत में साफ़ कहा है कि "तू निकाले जीता मुर्दे से-और तू निकाले मुर्दा जीते से—इसका सीधा अर्थ हुआ कि हर दो जिन्दगियों में एक मौत है और हर दो मौतों में एक जिन्दगी है॥ इससे बढ़कर और क्या दृष्टान्त हो सकता है। श्री स्वा० दयानन्द जी महाराज ने भी यही उदाहरण-प्रवाह से अनादि होने में दिया है ?

प्रश्न :—आप ऐसे क्यों नहीं मानते जैसे आम मुसलमान मानते हैं कि एक जन्म यह वर्त्तमान पहिला है पुनः क़ियामत के दिन रुहें आयेंगी और खुदा के हुकुम से अपने-अपने कालिबों में समा जायेंगी और खुदा के दरबार में दाखिल होंगी—अच्छे कर्म वाले हमेशा-हमेशा के लिये "बहिश्त" में चली जायेगी और बुरे कर्मों वाले सदा के लिये "दोज़ख" में चले जायेंगे।

उत्तरः—जिस्म का रुह=आत्मा से छूट जाने का नाम ही मौत है—और पुनः शरीर में प्रवेश करना ही जन्म है--कब्रों में शरीर तो गल-गला कर मट्टी की शक्ल अख्तियार कर लेगी—अब खुदा के हुक्म से दोबारा बनेंगे-रुहें दाखिल होंगी—यह "पुनर्जन्म" हो गया—बहिश्त में जाने के लिये "इन्साफ" = न्याय के बाद १२० वर्ष के बूढे तथा १५ वर्ष के लड़कों को "बहिश्त" के औरतों और अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर पदार्थों के भोग के लिये जवान-जवान मजबूत सुन्दर शरीर पुनः प्रदान किये जायेंगे, यह तीसरे शरीर का मिलना, तीसरा जन्म हुआ। अतः

आवागमन के बग़ैर आप बहिश्त में भी नहीं पहुँच सके। इस वैदिक मसले=सिद्धांत से आप बच न सके॥

एक ईश्वरीय नियम है जिसको कोई काट नहीं सकता—*दावा* कर *सकता* है—परन्तु दृष्टांतके अभाव से "दावा बेद लाल" हो जायेगा। वह नियम यह है कि "पैदाशुद:"=उत्पत्ति धर्मक वस्तु अर्थात् आरम्भ होनेवाली वस्तु नाशवाली अर्थात् समाप्त होने वाली होती है। क्योंकि एक किनारे वाला "दरया" नहीं होता, एक "सिरे" की रस्सी नहीं होती। ऐसा दरया हो सकता है जिसका कोई किनारा न हो परन्तु एक होगा तो दूसरा अवश्य होगा।

अतः "बहिश्त" का चूँकि आरम्भ है—अतः उसकी समाप्ति अवश्य होगी—अतः उससे लौटने पर पुनः "जन्म" होगा।

एक और ईश्वर का बड़ा जबरदस्त और बे बदल नियम हैं कि "महदूद"=लिमिटिड=समीम कर्मों का फल "समीम" होता है—असीम कभी नहीं हो सकता। अतः बहिश्त से कर्म फल भोग कर सब वापस आ-जायेंगे। जन्म धारण करेंगे॥

क्या इस धारणा का प्रभाव आप पर ही है या और भी कोई आप से सहमत है?

१-समाधानः—सबसे *प्रथम* स्वामी दयानन्दजी महाराज—**स्वर्गः**—नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

"**नरकः**" जो दुःख विशेष भोग तथा उसकी सामग्री का प्राप्त होना है। अर्थात् अवस्था विशेष है—स्थान विशेष नहीं॥

२—ठीक इसी प्रकार से "**मो० मुहम्मद अली**" अपने "अंगरेज़ी" कुरआनी अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं :—

स्वर्ग=जन्नत, नर्क=दोज़ख-स्थान विशेष नहीं अपितु अवस्था विशेष हैं :—

(This shows clearly that paradise and hell are more like two conditions than two places.)

इसके आगे चलकर अपने पक्ष की पुष्टि में कुरान के कुछ प्रमाण देकर मौलवी साहिब लिखते हैं :—

"This shows that hell is a condition which shall be perceived only by those in it and similar is the case with paradise." (भू० पृष्ठ LXIII-IV) (यह दर्शाता है कि नरक एक अवस्था है जिसका केवल उस अवस्था वालों को अनुभव होगा और यही दशा स्वर्ग की है) इसके आगे लिखते हैं :—"But as I have already poinsted out, the Holy Quran says that paradise and hell begin in this very life." (भू० पृष्ठ LXIV) (जैसे कि मैं पहले बतला चुका हूँ कि कुरान शरीफ कहता है कि स्वर्ग और नरक इसी जीवन में आरम्भ होते हैं) इसके आगे वह पुनः लिखते हैं "That the soul that has found rest in 'God' is admitted to paradise in this life" (भू० पृष्ठ LXIV) (कि वह आत्मा जिसने परमात्मा में शान्ति प्राप्त कर ली है, इस जीवन में स्वर्ग में प्रवेश-पाता है) पुनः भू० पृष्ठ LXV पर उन्होंने लिखा है :—"They enter into paradise in this very life" [वे इसी ही जीवन में स्वर्ग में प्रविष्ट होते हैं]। अपने पक्ष की पुष्टिमें कुरान के वचन देकर लिखते हैं :—"This shows that not only does paradise admit the righ teous to high places, but it is in fact the starting point for a new advancement, there being higher and higher places still and it is in accordance with this that they are spotion of as having on unceasing desire for attainingto higher and higher excellences" (भू० पृष्ठ LXVI) यह दर्शाता है कि स्वर्ग उत्तम कर्म करने वालों को न केवल उच्च-स्थानों में प्रवेश कराता है किन्तु वास्तव में यह नई उन्नति का आरम्भ विन्दु

है, क्योंकि अभी इससे भी अधिक उच्चतर स्थान है और इसके अनुसार ही यह कहा जाता है कि उनमें अधिक उन्नत तर उत्कर्षों को प्राप्त करने की समाप्त न होने वाली इच्छा रहती है।

नं० ३—आनरेबुल मौलवी सर सैय्यद एहमद खाँ साहिब बहादुर नज़मुल हिन्द फ़रमाते हैं:—"पस अगर हक़ीक़त=असलियत या सचाई "बहिश्त" की ये ही बाग़ और नहरें और मोती के और चाँदी और सोने की ईंटों के मकान और दूध व शहद व शराब के समुन्दर—लज़ीज़=स्वादिष्ट मेवे और खूबसूरत, औरतें, और लौंडे हों, यह समझना कि 'जन्नत" मिसल=जैसे एक बाग=फुलवाड़ी के पैदा की हुई है उसमें "संगमरमर" के और मोती के जड़ाऊ महल हैं। बाग में शादाब=पानी से तर-व सरसब्ज़=हरे भरे, दरख्त हैं—दूध और शराब और शहद=मधु की नदियाँ बह रही हैं। हर किस्म का मेवा खाने को मौजूद है। साक़ी=शराब पिलाने वाले साकनीन=शराब पिलाने वालियाँ—निहायत खूबसूरत=अतीव सुन्दर "चाँदी" के कंगन पहिने हुए 'जो हमारे यहाँ की घौंसने=घसयारिन पहनती हैं- शराब पिला रही हैं—इसके आगे.........मैं चार लाइन छोड़कर "मुफ़स्सिर साहिब का लेख पुनः आरम्भ करता हूँ। क्योंकि वे औरत मर्द के ऐसे नग्न चित्र हैं, जिस पर भाष्यकार ने प्रतिष्ठित मुसलमान होते हुये "ऐसा बेहूदः पन है" यह शब्द लिखे हैं। अब आप बखूबी समझ गये होंगे।

ऐसा वेहूदःपन है जिस पर तअ़ज्जुब होता है कि अगर "बहिश्त" ये ही हो तो "बे मुबालग़ः = निःसन्देह हमारे "खराबात" = शराब-खाने उससे हज़ार दर्जा "बेहतरीन" बहुत अच्छी चीज़ है। सन् १८९७ ईस्वी—अलीगढ़ में छपी सू० बकरः की "तफ़सीर" = भाष्य में ३८-३९ पृष्ठ पर पढ़ें।

सैय्यद साहिब आगे चल कर पृष्ठ ४० पर पुनः इरशाद फरमाते हैं:—"और एक कूड़मग़ज़ = कम अकल—मुल्ला या शहवत परस्त ज़ाहिद—(कहते तो खुदा परस्त को हैं परन्तु सय्यद साहिब ने शहवत

परस्त कहा है) यह समझता है कि दरहक़ीक़त = सचमुच वहिश्त में अनगिनत "हूरें" मिलेंगी, शरावें पियेंगे, मेंवे खायेंगे. दूध और शहद की नदियों नहायेंगे, और जो दिल चाहेगा वह मज़े उड़ायेंगे, और इस "लग़ुव" = झूठ, और वेहूदः = वेफायदः = लाभ शून्य अमर-अमर के बजालाने (नेककामों की आज्ञा पालन करने में) और "नवाही" = न करने योग्य कामों से बचने में कोशिश करता है।

४ कबहक परस्त ज़ाहिद जन्नत परस्त है।
हूरूँ पै मर रहा है शहवत परस्त है॥
ख़ूब मालूम है जन्नत की हक़ीक़त लेकिन।
दिलके बहलानेको ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है॥

५.—शाईर 'हाली' :—

बहिश्त और इरम सलसबील और कोसर।
पहाड़ और जंगल जजीरे व समुन्दर॥
इसी तरह के और भी नाम अकसर।
किताबों में पढ़ते रहे हैं बराबर॥
यह जब तक न देखें कहें किस यक़ीं पर।
यह हैं आस्मां पर या हैं यह जमीं पर॥

विशेष शब्दार्थ—*इरम*=वह बहिश्त जो शद्दीद बादशाह आ़द=हूद पैग़म्बर की कौम ने "जमीन" = इस दुनियाँ में निर्माण की थी॥ सलसबील = स्वादिष्ट च शमा शराब, वहिश्त। कोसर = वहिश्त की नहर का नाम।

ये सब बड़े-बड़े पढ़े लिखे मुसलमान आसमानी बहिश्त के काइल =मानने वाले नहीं हैं॥ यह स्थान विशेष नहीं है-अवस्था विशेष है,

"युगपद्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्"

मन एक समय में बहुत से ज्ञान नहीं रख सकता—जीवात्मा भी एक देशी अल्पज्ञ है। अतः जब जीव को पशु आदि की योनि में डालकर दुष्ट कर्मों को फल भोगने के बाद मनुष्य योनि में लाया जाता है—जो वह जीव जिसने पाप करके अपना अन्तःकरण समल—अस्वच्छ-अपवित्र कर लिया था वे अब धुलकर साफ़ हो गया—मनुष्य के "दण्डनीय स्थानों" में मनुष्य "दण्ड" तो भोग लेता है—परन्तु दुष्ट कर्म करने के तौर-तरीके सब स्मरण रहते हैं।

चोरी चमारी के सब हथकण्डे स्मरण रहते हैं—अपितु "जेल" में अपने साथियों से और नये-नये ढग सीख लेता है। परन्तु परमात्मा के इस "आवागमन" द्वारा जहाँ कर्मों का फल भोग होता है, वहाँ उन कर्मों के करने की सब तरकीब आदत—स्वभाव – तरीके=चालें भी भूल जाता है।

प्रश्न :—अदालत का नियम यह है कि अपराधी को अपराध की सूचना देकर "दण्ड" दिया जाता है। ऐसे ही यदि हमें बिना अपराध के जताये "दण्डित" किया जायेगा—तो हम बिना जाने कैसे सुधर सकेंगे ?

उत्तर :—परमात्मा का नियम ठीक है—आप का ठीक नहीं—मनुष्य दुष्टकर्म कर्त्ता है और उसे "गर्मी" और "सुजाक" जैसे महां दुःखदायी रोग हो जाते हैं—महीनों औषध सेवन करने पर फोड़े-फुन्सी पीप से सड़ा हुआ शरीर महान् कष्ट उठाने पर सैकड़ों रूपया खर्च करके अच्छा हो पाता है और कान पकड़ता है—कि पुनः ऐसा काम कभी नहीं करूँगा—परन्तु समय आने पर सब साधन स्मरण है—अतः पुनः वही कर्म कर लेता है।

आक़बत की ख़बर ख़ुदा जाने,
अब तो आराम से गुज़रती है ॥

अदालत या डाक्टर भुलवा नहीं सकते। इसके लिये परमात्मा की सुन्दर व्यवस्था "आवागमन" ही है ॥

प्रश्न :—आवागमन में सबसे बड़ा दोष यह है कि पाप कर्त्ता मनुष्य है परन्तु भोक्ता "घोड़ा" है–मनुष्य का कर्म मनुष्य को ही भोगना चाहिये।

उत्तर :—शरीर न कर्त्ता है और न भोक्ता ही है। कर्त्ता भोक्ता जीव है। शरीर उसका साधन है "**इस्ट्रूमिन्ट**" = करण है—तलवार से गला काटने पर "**तरवार**" को दण्ड नहीं मिलता—अपितु तलवार से मारने वाले को दण्ड मिलता—और नहीं उस घर में चोरी करने वाले या मारने वाले को दण्ड मिलता है—उस दण्ड भोगने के लिये "**सरकार**" ने अलग घर (**वन्दी गृह=जेल खाने**) वनवा रक्खे हैं—वहाँ रख कर उन्हें किये का फल मिलता है, **एवं रीत्या** जीव को अपराधी माना जाता है (**शरीर-तलवार की जगह है**) अतः उसे घोड़े का शरीर देकर कुकर्मों का मैल धोया जाता है और साथ ही साथ समय बीतने के कारण–बुराई आदि के करने का भी रास्ता भूल जाता है—अतः शुद्धि करके पुनः मनुष्य शरीर में लाया जाता है।

विज्ञानी परमात्मा का यह (पुनर्जन्म) ऐसा सुन्दर और '**अलौकिक**" विज्ञान है कि यह (ईश्वर) हाथ-पाँव आदि शरीर को न "**कैद**" करके "**मन**" जो सब अच्छे बुरे कर्मों की "जड़"=मूल कारण है (**मन एव मनुष्यानां कारणं बन्धमोक्षयोः**) उसे (मनको) ही "दण्डीगृह" में डाल देता है धुल भी गया और पुनः करने को "**लत**" व "**रास्ता**" भी भूल जाता है॥

यदि कहीं पिछली बातें सबकी सब-सब मनुष्यों को स्मरण रहतीं तो सब अपने दोस्त दुश्मन को पहचान लेते—और फिर वह घमासान युद्ध होता कि संभाले न संभलता। "**तत्वदर्शी**" प्रभु ने ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया कि—"**न रहे बाँस न बाजे बाँसुरी**"॥

"पातञ्जलयोग" २–१३

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"

अर्थ :—जाति आयु भोग—कर्माशय का फल हैं। जब कोई प्राणधारी जन्म लेता है तो वह जिस जाति में जन्म लेता है। मनुष्य जाति या पशु जाति में वह उसकी पूर्व वासनाओं का फल है। जो उसके अन्तःकरण में पूर्व के कर्मों से सञ्चित हुई होती है। इसी प्रकार जितनी उसे आयु भोगनी है, और वो सारी आयु में भोग (सुख-दुख) भोगने हैं—वह भी उसके सञ्चित कर्मों का फल है। "जाति" तो केवल पूर्वजन्म के कर्मों से ही बनती है। परन्तु आयु और भोग पूर्व और वर्त्तमान् जन्म—दोनों के कर्मों का "फल" होते हैं। यम नियम आसन प्राणायाम करता हुआ शुभमार्गी पुरुष अपना "आयु भोग" को बढ़ा लेता है। (जो कि स्वभावतः उसे मिलने नियत थे।) और दुष्ट कर्मानुगामी पुरुष उसे घटा लेता है॥ यद्यपि पूर्व सञ्चित कर्मों से ही आयु और भोग मिलता है—परन्तु सदाचार ब्रह्मचर्य से "श्वास" बहुत कम खर्च होते हैं—शरीर के पुरज़े कम घिसते हैं संयमित आहार व्यवहार से आयुभोग दोनों बढ़ जाते हैं। कुचेष्टाओं से वीर्य नष्ट करने पर शरीर शिथिल जरजरित हो जाताहै—अतः श्वास बहुत खर्च होते हैं पुरज़े खराब होकर—आयु भी घट जाता है। जैसे टमटम का घोड़ा अधिक दिनों तक नहीं जीता। थान का घोड़ा, केवल सवारी के काम का बहुत दिनों तक जीता है॥

सूत्र १४ - तेऽह्लाद परिताप फलाः, पुण्यापुण्य हेतुत्वात्

अर्थ :—जन्म आयु भोग—ये कर्मों का फल है, अतः हमें ये सुख और दुःख देते हैं। जो पुण्य कर्मों का फल है—वे सुख देते हैं। और जो पाप कर्मों का फल है—वे दुःख देते हैं।

वैशेषिक—५-२-१८,

"तद भावे सयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः"

अर्थ :—"*तदभावे*" = *तस्याऽदृष्टस्याभावेसति* = उस अदृष्ट के अभाव हो जाने पर, "*सयोगाभावः*=*देह प्रवाह सम्बन्धस्य विच्छेदः*=शरीर का प्रवाह (आवागमन) के संबन्ध का विच्छेद=छुट-

कारा हो जाता है। "अप्रादुर्भावः=अदृष्ट रूपस्य कारणस्याऽभावात् शरीरान्तरेण न पुनरन्यः संयोगः प्रादुर्भवति अदृष्ट रूप कारण (जिससे जन्म मरण बनता है) के अभाव से दूसरे शरीर के साथ संबंध (जन्म) का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ "सोऽयंमोक्षः"=अर्थात् आवागमन के छूट जाने पर मोक्ष होता है ॥

सांख्य में पुनर्जन्म--३-४८, ४९ ५० सूत्र

"ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला:"

सत्व प्रधान पुरुष ऊँची योनियों में "जन्म" लेते हैं ॥

"तमो विशाला मूलतः"

तमो गुणी पुरुष नीच योनियों में जाते हैं—"जन्म" लेते हैं ॥

"मध्ये रजो विशाला:"

रज प्रधान जीव मध्य योनियों में जाते हैं, इस प्रकार "कपिल" मुनि ने सांख्य दर्शन में "आवागमन" का पतिपादन किया हैं ॥

"वेदान्त में पुनर्जन्म--३ २-४२"

"कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित निषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः"

अर्थ :—ईश्वर द्वारा जो जीवात्मा को नवीन कर्म करने की शक्ति देकर उसे नवीन कर्मों में नियुक्त किया जाता है, वह उस जीवात्मा के जन्म जन्मान्तर में सञ्चित किये हुये कर्म संस्कार से उत्पन्न स्वभाव की अपेक्षा से ही किया जाता है। ईश्वर निर्दोष है। क्योंकि शास्त्रों में अच्छे कर्मों का विधान और बुरे कर्मों का निषेध किया गया है। इसी से विधिः निषेध की सार्थकता है ॥ इससे भी पुनर्जन्म सिद्ध है।

यमाचार्य तथा नचिकेतः

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथा कर्म यथाश्रुतम् ॥

अर्थ :—यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेतः ! मोक्ष प्राप्त करने वाले

मनुष्यों का तो "आवागमन" छूट गया—परन्तु "अन्ये योनिं प्रपद्यन्ते"=जिनकी मोक्ष नहीं हुई—वे दूसरे शरीरों को प्राप्त करते हैं। अन्ये जीवाः (ये घोर पापाचारिणः सन्ति) *स्थाणुम्-अनु-संयन्ति*=स्थाणुभावको प्राप्त करते हैं॥ यथा कर्म यथा श्रुतम्=अपने पूर्व कृत कर्मों संस्कारों द्वारा-(जन्म मरण प्राप्त करता है)॥

अन्त में मैंने "वेदान्त" द्वारा प्रमाण देकर अपने पक्ष की पुष्टि की है। इसलिये इस लेख का भी अन्त अर्थात् समाप्ति करनी चाहिये। यह "आवागमन"=आना-जाना इतना ही "अथाह" है अर्थात् लम्बायमान है—कि जितना मैंने जन्म से लेकर आज तक ८४ वर्ष में बचपन जवानी बुढ़ापे तक तथा आर्य समाज की उपदेश आदि के द्वारा सेवा करने में कलकत्ता, बम्बई, हैदराबाद, सी० पी०, पंजाब, यू० पी० बिहार, बैंगाल आसाम, चन्दन नगर, नदिया शान्ति आदि-आदि नगरों में ग्रामों में "आर्य प्रतिनिधिः सभायों" के माध्यम से तथा स्वतन्त्र रूप से "ऋषि ऋण" उतारने के लिये "भ्रमण"=आवागमन किया है। कौन गिन सकता है—एवं रीत्या आप अपने कारबार के सिलसिले में कितना घूमें हैं और घूमेंगे। *कौन कहेगा*। इससे भी कहीं कठिन-अतिकठिन-"आवागमन"=पुनर्जन्म का "चोखा" और तगड़ा हिसाब है।

अब जैसे मैं इस "लेख" से छुट्टी पा गया ऐसे ही हम और आप इस "आवागमन" से कैसे छुट्टी पाँयेगे—सो दो 'उपनिषिद्' की श्रुतियों से दर्शाऊँगा :—कठ—२ वल्ली—१४-१५।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामो योऽस्य हृदिश्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥१४॥

अर्थ :—*यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते*=जब सब छूट जाती हैं। *कामाः*=विषयों की अभिलाषायें। *ये अस्य हृदिश्रिताः*=जो इस मनुष्य के हृदय में अन्तःकरण में बसी हुई हैं॥ *अथ मर्त्यो-अमृतो भवति*=तब मरण

धर्मा मनुष्य अमृत = मुक्त हो जाता है ॥ *अत्र ब्रह्म समश्नुते* = इसी जन्म में ब्रह्म को भली प्रकार प्राप्त कर लेता है ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

अर्थ:—*यदा-इह-हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः*=जब यहाँ हृदय=अन्तः-करण की सब गाठें-*प्रभिद्यन्ते*=टूट जाती हैं। *अथ मर्त्यः-अमृतो भवति*=तब मरणधर्मा पुरुष अमृत=मुक्त हो जाता है॥ *एतावत्-इह-अनुशासनम्*=यहाँ तक ही अनुशासन है ॥

भावार्थ:—विषयों में प्रवृत्ति न होने से आत्मा की प्राङ्मुखता = बहिर्मुखी वृत्ति नष्ट हो जाती है। अन्तरमुखी वृत्ति होने पर आत्मा में परमात्मा के दर्शन होते हैं। चिरकालीन वासनाओं के कारण अन्त करण में राग-द्वेष, लोभ, मोह, मद मात्सर्य, काम, क्रोध आदि की अनेक गाँठें पड़ जाती हैं। इन्हीं के कारण किसी को मित्र किसी को शत्रु— किसी को अपना—पराया समझने लगता है, इससे वे गांठें और दृढ़ हो जाती हैं। विवेकी पुरुष इन गाँठों के कारण को पहचान कर—उसे नाश करने का उपाय करता है। इससे **"अहम्मन्यता"** नष्ट हो जाती है—मनुष्य में सादापन सेवा-भाव आ जाता है। दूसरे की बुराई देखने की जगह—अपनी बुराई देखने लगता है —आलस्य छोड़कर पर-उपकार में रत हो जाता है। बस क्या है—अपने गृहस्थी से बचे समय में— *संसाराराधन* नहीं करता *ईश्वराराधन* करता है दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती चली जाती है। क्योंकि रात्रि में मनन में अधिक एकाग्रता होती है—अतः उपासना में अधिक मन लगता है—इसलिये संसार की आराधना से दिन-रात के दोनों पाट में साबित बचा न कोये, और ध्रुव कीली से मिल जाने पर 'बाल न बाँका होये" ध्रुव = स्थिर-न चलने वाला परमात्मा है—उस सर्वशक्तिमान् की आराधना = उपासना से मनुष्य के सब संशय मिट जाते हैं गाँठें खुल जाती हैं—संसार मित्र

हो जाता है—हमारी भी मित्र की दृष्टि हो जाती है—प्रेम का प्रसार होता है और निर्भय होकर सदैव निर्भय रहने की प्रार्थना ईश्वर से वेदमन्त्रों द्वारा करते हैं :—

अथर्व वेद--१९-१५-५,६।

अभयं नःकरत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ता दुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

अर्थ :—हे भगवन्! *अन्तरिक्षम्* = दो लोक के मध्य का आकाश। *नः* = हमें। *अभयम्* = निर्भय। *करति* = करे। *उभे इमें द्यावा-पृथिवी* = दोनों यह विद्युत या सूर्य और भूमि। *अभयं करति* = अभय-करे। *पश्चात्-अभयम्* = पीछे से भय न हो। *पुरस्तात्-अभयम्* = आगे से भय न हो। *उत्तरात्-अधरात्* ऊपर से नीचे से। *नः*-हमें *अभयं अस्तु* = भय न हो ॥

अभयं मित्रादभयम-मित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अर्थ :—हे परमात्मन्! *मित्रात् अभयम्* = मित्र से भय न हो। *अमित्रात् अभयम्* = शत्रु से भय न हो। *ज्ञातात्-अभयम्* = जाने हुए पदार्थ से भय न हो। *यः पुरः अभयम्* = जो सामने है उससे भय न हो। *नः नक्तं अभयम्* = हमें रात्रि में भय न हो। *दिवा-अभयम्* = दिन में भय न हो। *सर्वाः-आशा-मम मित्रम् भवन्तु* = समस्त दिशायें मेरे मित्र होवें ॥

निर्भय होकर जो सचाई से ईश्वर की उपासना करता है—गायत्री मंत्र का जप करता है वह अवश्य "आवागमन" के चक्र से छूटकर परं पद "**मोक्ष**" को प्राप्त करता है—"**नात्र संशयः**" ॥

॥ समाप्तश्चायं प्रथमो भागः ॥



॥ ओ३म् ॥

"लेखक के दो शब्द"

अस्सी से ऊपर नब्बे के आसपास पहुँच रहा हूँ। इस वर्ष आर्यसमाज भोजूवीर वाराणसी कैण्ट के वार्षिकोत्सव के अवसर पर कतिपय आर्य मनीषियों ने मुझसे आग्रह किया कि इस अवस्था में मैं कुछ लेखन कार्य शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ करूँ। मैंने जीवन का बहुमूल्य समय शास्त्रार्थों एवं व्याख्यानों में ही व्यतीत किया। लेखन कार्य की प्रेरणा तो अपने जीवन में बहुतों को मैंने दिया परन्तु स्वयं व्यवस्थित रूप से लिखना अपना उद्देश्य नहीं रहा है वैसे यत्र तत्र मेरे कतिपय लेख यदा कदा प्रकाश में आते रहे हैं; किंतु उससे न तो मुझे ही सन्तोष रहा और न आर्य जनता की आकांक्षा ही पूरी हो सकी।

अस्तु. जीवन की स्वर्णिम सान्ध्य वेला में लेखनी उठा ली है—अपने सहयोगियों के विशेष आग्रह वश, मैं सोच यही रहा हूँ कि क्या क्या लिख डालूँ। शास्त्रार्थों की नोक झोंक, शंका समाधान की पैंतरेबाजी, व्याख्यानों के विहंगम उड़ान, महायज्ञों की गम्भीरतम कण्डिकाओं पर गम्भीर टिप्पणियाँ, वेदभाष्य की महानतम कुञ्जियाँ, अथवा आर्य जगत के समाचारों का सम्पादन, आदि आदि अनेकानेक विषय मन में तरंगायमान होकर सुमधुर नृत्य का दृश्य उपस्थित किये हुए हैं। ऐसे अपने मन को इधर उधर भटकता जानकर मैंने परमात्मा से प्रार्थना करना प्रारम्भ किया कि हे जगदीश्वर "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु"। अतः जगदीश्वर की असीम अनुकम्पा से मैंने अपने मन को शिव संकल्प की ओर खींचकर अपने व्याख्यानों की कुञ्जियों को "व्याख्यान-मुक्तावली" नामक लघु निबन्ध में मनोयोग पूर्वक एकत्रित करने का पूर्वाभ्यास किया है। आशा है इस प्रकाशन से आर्यजनों को कुछ सन्तोष अवश्य होगा।

— लेखक

॥ ओ३म् ॥

आर्य समाज के नि

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या
का आदि मूल परमेश्वर है ।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप, निराकार, स ... ्यायकारी, दयालु अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें ।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७—सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।